प्रकाशक—
साहित्य-रत्न-माला कार्यालय
२० धर्म कूप, बनारस।

संवत् २००५
प्रथम संस्करण १०००

मुद्रक—
पं० जानकीशरण त्रिपाठी
सूर्य्य प्रेस, बनारस

मूल्य २॥)

आत्म-निवेदन

पंजाब की राजनीति के रंगमंच पर अनुदार दलीय गवर्नर इवान जेंकिंस की कला का प्रदर्शन प्रारम्भ हो चुका था। सारा प्रांत साम्प्रदायिकता की संक्रामकता से चीत्कार करता हुआ देश के नेताओं के भरोसे सकटमय जीवन के बीहड़ पथ से गुजर रहा था। उस असाधारण परिस्थिति मे अपने परम श्रद्धेय डा० हरदेव बाहरी, एम० ए० पी० एच० डी०, डी० लिट् (तात्कालिक प्रो०, एचीसन कालेज, लाहोर) ने नाटक संबंधी एक पुस्तक लिखने की आज्ञा दी। भारतीय रंगमंच और उस जेंकिंस की नाट्य-शाला का साम्य तो कुछ हो ही नहीं सकता था। फिर भी गुरुजनों की आज्ञा का टालना एक तो अशिष्टता, फिर पाप। अत. उस कठिन परिस्थिति में ही यह काम प्रारम्भ कर दिया गया।

आये दिन के हत्याकांडों और रक्तपात की घटनाओ ने दिल को इतना दहला दिया था कि साहस छोड़कर बैठ जाता था। बहुत साहस करने पर भी काम पूरा न कर सका।

हमारे पूज्य नेताओ ने अचानक अपना हठ छोड़कर पाकिस्तान स्वीकार कर लिया। फलतः पंजाब के पंचनद-प्रदेश के बँटवारे की घोषणा हो गई और दो-दो चार-चार वस्तुएँ लेकर पंजाब के हिंदू पूरब की ओर भागने लगे। लाहोर छोड़कर मै भी भाग आया। पूज्य बाबू रामचंद्र वर्मा जी ने, इस सकटावस्था मे, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के कोश-विभाग मे बुला लिया। उन्हीं की इच्छा और आज्ञा से "रूपक-विकास" का शेष भाग लिखकर तैयार किया गया।

पिछले आठ-दस वर्षों मे अपने विद्यार्थियो को नाटक का विषय पढ़ाते हुए यदा-कदा कुछ नोट लिखता रहा था। प्रस्तुत पुस्तक प्रायः उन्ही के आधार पर तैयार हुई है। विशेष सहायता के लिए उन पूज्य विद्वानों का कृतज्ञ हूँ जिनके ग्रंथो से इसको सम्पन्न करने मे सहायता मिली है। इस रूप मे स्व० श्रद्धेय डा० श्यामसुंदरदास, श्री बाबू व्रजरत्नदास जी, श्री बाबू गुलाबराय जी, एम० ए०, श्री प्रो० सत्येंद्र जी, श्री प्रो० नगेंद्र जी और माननीय भ्राता शिखरचंद्र जी जैन के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ। इनके ग्रंथों का अध्ययन मेरे कार्य में विशेष सहायक रहा है।

पूज्यवर बाबू रामचंद्र वर्मा जी ने इसके प्रकाशन का तो आधार दिया ही, साथ ही उनके सत्परामर्श से भी मैंने बहुत लाभ उठाया है। परंतु वे मेरे पितृ-तुल्य हैं और किसी उपकार के लिए मैंने पूज्य पिता के लिए न तो कभी कृतज्ञता-ज्ञापन की धृष्टता की है और न धन्यवाद देने की ही अशिष्टता। अतः उनकी हर प्रकार की उदारता से लाभ उठाकर भी बदले में कुछ देने मे असमर्थ हूँ।

पुस्तक के प्रूफ-संशोधन का कार्य मेरे सहयोगी पं० रामप्रसाद जी दुबे तथा प्रियवर भाई व्रजनाथ माधव (मोरिशस-निवासी) ने किया है, अतः दोनों महानुभावों की सहायता के लिए हृदय से कृतज्ञ हूँ। श्रद्धेय भाई शिवनाथ जी एम० ए० संपादक नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी, की उदारता से भी मैंने लाभ उठाया है; अतः उनका भी कृतज्ञ हूँ।

अब प्रस्तुत पुस्तक के संबंध मे भी दो-एक बातें कहनी हैं। रूपक और रंगमंच भारत के अपने हैं। इसी आधार पर मैं चला हूँ। हमारे नाटककारों ने किसी से कुछ लिया ही नहीं, यह तो नहीं कह सकते,

परतु इसमे संदेह नहीं किया जा सकता कि हमारी नाट्य-कला में मौलिकता है। उसका मोल क्या है, यह इस पुस्तक में देखा जा सकता है। अपने माननीय नाटककारो के संबंध में मैंने बहुत कुछ संयत वाणी का प्रयोग किया है। फिर भी यदि मै कहीं कुछ भूल कर बैठा होऊँ तो इसे मानव प्रकृति समझकर क्षमा-दान दिया जाय।

यह पुस्तक मैंने साहित्य के विद्यार्थियो के लिए लिखी है। यदि उन्हे इससे कुछ भी लाभ पहुँच सका तो अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

विद्वज्जनो का अनुचर
वेदमित्र 'व्रती'

शोक-प्रकाश

अत्यन्त शोक का विषय है कि इस पुस्तक के होनहार लेखक उपाध्याय श्री वेदमित्र जी इस पुस्तक के प्रकाशित होने के ५–६ दिन पहले ही स्वर्गवासी हो गये। जब देश का विभाजन होने पर आप लाहौर से अपने निवास-स्थान मवाना (जि० मेरठ) चले आये थे, तब मैने ही आपको काशी नागरीप्रचारिणी सभा के कोश विभाग मे अपने सहायक रूप मे काम करने के लिए यहाँ बुलाया था। थोड़े ही समय मे आपने अपनी योग्यता, कार्य-कुशलता और सहन-शीलता का बहुत अच्छा परिचय दिया था। मुझे आशा थी कि हिन्दी क्षेत्र मे आप बहुत कुछ कार्य करेंगे और अच्छी कीर्ति प्राप्त करेंगे। पर परमात्मा की इच्छा कुछ और ही निकली। जितनी प्रसन्नता से मैंने इस पुस्तक का प्रकाशन आरम्भ किया था, उससे कहीं बढ़कर दुःखद अवस्था में यह पुस्तक प्रकाशित हो रही है। फिर भी मैं आशा करता हूँ कि जिन नवयुवक विद्यार्थियों के लिए श्री वेदमित्र ने यह पुस्तक इतने परिश्रम से लिखी थी, वे इससे अवश्य पूरा पूरा लाभ उठावेंगे।

काशी
२० मई, १९४८

रामचन्द्र वर्मा

विषय-सूची

पहला प्रकरण

रूपक और शेष साहित्य से उसका सम्बन्ध

दूसरा प्रकरण

नाटक संबंधी शास्त्रीय परम्पराएँ

तीसरा प्रकरण

भारतीय नाटकों का आरंभ

चौथा प्रकरण

हिंदी नाटकों का क्रमिक विकास

हिंदी नाटकों का आरंभ

पाँचवाँ प्रकरण

एकांकी

छठा प्रकरण

अन्य प्रांतीय नाटक

सातवाँ प्रकरण

कुछ नाटकों पर चिंतन-दृष्टि

रूपक-विकास

पहला प्रकरण

रूपक और शेष साहित्य से उसका संबंध

विचारपूर्वक की हुई रचना को आचार्यों ने साहित्य का नाम दिया था। और उसी साहित्य में रसात्मकता का समन्वय पाकर उसे काव्य संज्ञा प्रदान की थी। इसी काव्य को विषयानुसार दो भागों में विभाजित किया गया— १–श्रव्य काव्य और २–दृश्य काव्य। श्रव्य काव्य की उपयोगिता-प्राप्ति के लिये श्रुतिछिद्रों की अनिवार्यता स्पष्ट है। वह रचना जिसका अनुभव कानों-द्वारा हो सके उसे ही श्रव्य काव्य कहा जायगा। कहानी, उपन्यास, निबंध, आलोचना गद्यगीत—और खंडकाव्य तथा महाकाव्य का संबंध इसी प्रथम भेद से है। काव्य का दूसरा भाग, जिसे दृश्य काव्य कहा गया है, उसका संबंध कानों से है तो सही परंतु उसके लिये अधिक उपयोगिता आँखों ही की है। दृश्य काव्य की सार्थकता दृश्यों को देख सकने वाली इंद्रियों पर निर्भर है इसी लिये उसे यह

नाम दिया गया है। दृश्य काव्य को रूपक नाम से भी पुकारा गया है। यह रूपक नाम भी साभिप्राय है। वस्तुतः श्रव्य काव्य का आनंद लेने मे केवल श्रवणेंद्रिया सहायक होती है, परंतु दृश्य काव्य मे श्रवणेंद्रिय के साथ ही बहुत भारी सहायता चक्षुरिंद्रिय की भी होती है। और इसी चक्षुरिंद्रिय अर्थात् आख का विषय है रूप—तो दृश्य काव्य की आनंदानुभूति मे विशेष सहायता प्राप्त होती है इसी इंद्रिय से। इसी कारण इस प्रकार के काव्य को "रूपक" कहा गया है। नाटक, जो वास्तव मे रूपक का एक भेद-मात्र है, आजकल रूढ अर्थ मे रूपक का वाचक हो गया है। आगे हम भी नाटक शब्द को इसी रूढ़ अर्थ मे प्रयोग करेंगे।

नाटक शब्द का जिन प्रचलित अर्थों मे प्रयोग होता है उनका विशेष उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नही, परतु इतना समझ लेना अच्छा होगा कि नाटक शब्द की व्युत्पत्ति 'नट्' धातु से होती है और नट् धातु का अर्थ होता है सात्विक भावो का प्रदर्शन। दूसरे अर्थो मे कह लीजिये कि नाटक शब्द का संबध नट (अभिनेता) से है और उसके द्वारा की गई अवस्थाओ की अनुकृति को नाट्य कहा जाता है।

शेष साहित्य से उसका संबंध

नाटक का संबंध कथात्मक साहित्य से समझना चाहिये। इस रूप मे कहानी, उपन्यास और प्रबध काव्य उसके सजातीय सिद्ध होते हैं। निबंध और आलोचना का उससे जितना सबंध है इसे समझने के लिये पहले यह जान लेना चाहिये कि नाटक को काव्य-शास्त्रकारों ने चंपू कहा है। और यह चंपू है गद्य और पद्य का मिश्रित रूप; फिर निबंध तथा

आलोचना का सबंध है गद्यमात्र से; इसलिये निबंध और आलोचना तो उससे बहुत अलग की वस्तुए हैं। अब रहा कहानी उपन्यास और प्रबंध काव्यो से उसका भेद! सो उसके सबध मे इस प्रकार समझना चाहिये कि प्रबंध रचना पद्यबद्ध होगी और कथा-उपन्यास आदि गद्य मे; इसलिये चपू उससे सर्वथा पृथक् वस्तु होगी। और प्रबंध रचना का आधार है पद्य, तो चंपू से वह भी पृथक् हो गया। हा, यदि कोई व्यक्ति कहानी और उपन्यास को पद्यात्मक रचना भी स्वीकार करले तो भी चंपू के मिश्रित रूप से वे भिन्न ही रहेंगे। और नाटको का अन्य साहित्य से सब से बड़ा अतर है इस बात मे कि उनका मूलभूत आधार "संवाद" अन्य किसी भी प्रकार की रचना मे है ही नहीं। इस संवादमय गद्य-पद्य के समन्वय ने नाटक को साहित्य की एक प्रसिद्ध इकाई स्वीकार करते हुए भी उसे शेष साहित्य से सर्वथा पृथक् रखा है।

साहित्य में उसकी मान्यता

साहित्यकारों ने ललित कला को पाच भागो मे विभाजित किया है:— वास्तु (भवन-निर्माण) कला, मूर्तिकला, चित्रकला, सगीत-कला और काव्य-कला। अपनी-अपनी अभिरुचि के अनुसार इनमें से किसी को भी महत्ता देकर सर्वोच्च कहा जा सकता है। यदि अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कला के किसी भी भेद को सर्वोच्च माना जा सके तो बताइये कि सर्वकला-समन्वित नाटक का क्या महत्त्व होगा! नाटक की रंगभूमि स्वतः वास्तुकला का एक उदाहरण होती है। मूर्तिया और चित्र उसकी शोभा के उपकरण बनते हैं। संगीत की सुमधुर ध्वनि रंगभूमि के हृदय की झंकार बनकर बज उठती है, यहीं संगीत कला का समन्वय हो जाता है। और संवादों मे काव्य-कौशल स्वयं काव्य का

प्रतिनिधित्व करता ही है। इस रूप मे रंगशाला का हर एक दर्शक ललित कलाओ में से प्रत्येक का आनंदोपभोग कर सकता है। नाटक की इस मान्यता के कारण ही तो कहा गया था :—

"काव्येषु नाटकं रम्यम्"

नाटक के भी अनेक भेद हैं जिनमे से ऐतिहासिक, पौराणिक और धार्मिक तो बहुत ही प्रसिद्ध है। इस रूप मे नाटक-रचना की पूर्ण सामर्थ्यप्राप्ति के लिये ठोस जानकारी की अपेक्षा है। इसी बात का संकेत भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र मे करते हुए बताया है कि ऐसा कोई कार्य नही जिसका योग नाटक के लिये अपेक्षित न हो। भरत लिखते है :—

न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।
सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च ॥

अर्थात् न ऐसा योग है न कर्म, न शास्त्र और न शिल्प अथवा अन्य कोई कार्य जिसका नाटक मे उपयोग न हो।—इस दृष्टि से भी उसकी बहुत मान्यता है।

फिर मूर्त वस्तु का प्रभाव भी अमूर्त की अपेक्षा कुछ अधिक होता है और नाटक है ही प्रत्यक्ष मूर्त वस्तु। भला जहा आंखों वाले, अपने अभिनेताओ को अपनी आंखों के सम्मुख हर प्रकार से आकर्षक आकृति लिए हुए गतिमय दिखाई पडेंगे वहा प्रभाव की क्या कमी रह सकेगी ! और जब उसे पाचवां वेद मानकर शूद्रो तक को भी उसमे गति दी गई हो तो उपयोगितावाद की दृष्टि से तो कुछ भी कमी रही ही न मानो।

मानवमात्र उससे उपकृत हो सकता हो तो फिर उसकी मान्यता मे संदेह ही क्या हो सकता है ! बस यही तो उसकी मान्यता है ।

× × ×

नाटक हमारे साहित्य का एक प्रमुख अंग रहा है। साहित्य मे उसका अपना एक मोल है इसलिए उसकी भी अपनी कुछ साहित्यिक परंपराएं है—उसके भी अपने कुछ नियम बंधन है । उसके विकास मे ये बंधन किसी न किसी रूप में आज तक उलझते-लिपटते चलते हैं। नाटकीय रचना मे उनका महत्त्व शास्त्रीय व्यवस्थाओं के समान स्वीकार किया जाता है । नियमो का निर्माण भले ही रचना के पश्चात् होता हो, परंतु किसी प्रकार की रचना का विकास समझने और उसके गुणदोष परखने के लिये उन शास्त्रीय परंपराओं को समझ लेना अत्युपयोगी होता है। इसलिये इस विकास की कथा आरंभ करने से पूर्व उन परंपराओ का उल्लेख करेंगे ।

दूसरा प्रकरण

नाटक संबंधी शास्त्रीय परंपराएं

नाटकों के संबंध में शास्त्रीय बंधनो को समझने से पूर्व हम फिर से दोहरा देना चाहते हैं कि नाटक वास्तव में रूपक का भेद है और आज के युग में उसका प्रयोग रूपक के प्रायः सभी भेदों के लिये होता है। नाटक के अतिरिक्त रूपक के और भी अनेक भेदोपभेद हैं जिनका संक्षिप्त उल्लेख करना उपयोगी सिद्ध होगा।

रूपक के भेद

रूपक के १० भेद प्रसिद्ध हैं जिनके नाम ये हैं—

१	नाटक	६	समवकार
२	प्रकरण	७	प्रहसन
३.	भाण	८.	डिम
४	व्यायोग	९.	ईहामृग
५.	वीथी	१०.	अंक

१. **नाटक**—इन दसों भेदो मे नाटक सर्वप्रधान माना गया है। नाटक में नाट्यशास्त्र संबंधी सारे नियम और लक्षण पाये जाते हैं और उसमें रस भी सभी आ जाते हैं इसी लिये उसे यह प्रधानता मिली है। इसी विशेषता के कारण नाट्याचार्यों ने नाटक को नाट्य-प्रकृति कहा है और उसे रूपक के सब भेदो का प्रतिनिधि माना है। और यही कारण है कि रूपक शब्द के स्थान पर आज हम नाटक का ही प्रयोग करते हैं।

नाटक की विशेष जानकारी के लिये याद रखना चाहिये कि उसकी कथा का आधार कोई प्रसिद्ध ऐतिहासिक आख्यान अथवा पौराणिक कथानक होना चाहिये। उसके नायक मे विशिष्ठ गुणो का समावेश अनिवार्य है इसलिये वह या तो राजा-महाराजा होना चाहिये या कोई महान् विद्या-तपोबलात्मा ऋषि-महात्मा। नाटक मे प्रायः ५ अंक होते है। इससे अधिक अंक भी हो सकते है और इस प्रकार के नाटको को महानाटक कहा जाता है। यदि नाटक के आरंभिक अंकों की अपेक्षा पिछले अंक छोटे-छोटे होते जायेगे तो अच्छा माना जायगा। नाटक मे किसी भी रस का प्रयोग करने की खुली छुट्टी है; परंतु प्रमुखता शृंगार और वीर रस को ही दी जाती है।

२. **प्रकरण**—प्रकरण का कथानक लौकिक और कविकल्पित होना चाहिये। नायक के संबंध मे नियम है कि वह धीर-शात हो। वैसे वह या तो किसी राजा का मंत्री होता है अथवा ब्राह्मण या वैश्य। धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति उसका लक्ष्य होता है और हरेक बाधा को सहकर भी वह लक्ष्य सिद्धि प्राप्त करता है। नायिका उसमे कुलकन्या भी हो सकती है और वेश्या भी। नायिका भेद से वह तीन प्रकार का होता है।

३. **भाण**—इसमे अक भी एक होता है और पात्र भी एक। कथावस्तु कविकल्पित होती है, और नायक रंगमच पर आकर आकाश की ओर देखकर इस ढंग से बाते करता है मानो आकाश मे उसकी बातो का सुनने वाला और उत्तर देनेवाला कोई व्यक्ति प्रस्तुत है। इसका नायक बहुत बुद्धिमान् और कुशल व्यक्ति होना चाहिये, और कथावस्तु मे दूसरो के धूर्ततापूर्ण कृत्यो का सवाद रहना चाहिये।

४. **व्यायोग**—व्यायोग की कथा इतिहास अथवा पुराण का आधार लेकर चलती है। उसका नायक धीरोद्धत, राजर्षि अथवा दिव्य व्यक्ति होता है। पात्र इसमे पर्याप्त होते है, परंतु स्त्री एक भी नहीं होती। इसमे एक ही अंक होता है, जिसमे वृत्तात भी केवल एक ही दिन का रहता है। इसमे युद्ध होता है इसलिये शृगार और हास्य से सर्वथा रहित रहता है।

५. **वीथी**—इसमे भी अक एक ही होता है। पात्र भी एक या दो होते हैं। नायक उच्च अथवा मध्यम श्रेणी का होता है। शृंगार की इसमे प्रधानता रहती है और कथोपकथन का ढंग भाण के समान होता है अर्थात् आकाश-भाषित का प्रयोग किया जाता है।

६. **समवकार**—इसमे ३ अक होते है। प्रथम अंक मे छः घडी का वृत्तात होता है और दूसरे मे दो घड़ी का तथा तीसरे मे केवल एक घडी का। इसका कथानक इतिहास-प्रसिद्ध, परंतु देवासुर सबधी होता है। इसमे वीररस प्रधान रूपसे रहता है और १२ देवासुर इसके नायक होते है। प्रत्येक नायक को फल भी पृथक्-पृथक् ही प्राप्त होता है।

७. **प्रहसन**—इसके नाम से ही प्रकट है कि इसमे हास्यरस प्रधान रहता है। यह प्रहसन तीन प्रकार का होता है :—शुद्ध, विकृत और

मकर। शुद्ध मे पाखंडी, संन्यासी, तपस्वी अथवा पुरोहित नायक होता है। इनमे हास्यपूर्ण उक्तियो का आधिक्य होता है। वेशभूषा से भी प्रभाव पैदा किया जाता है। विकृत प्रहसन मे नपुंसक, कचुकी और तपस्वियो का कामुक वेश मे प्रदर्शन होता है। संकर प्रहसन मे हँसी-ठट्ठे की अधिकता रहती है। इसका नायक धूर्त और छली होता है।

प्रहसन के इन तीनो ही भेदो मे विष्कंभक और प्रवेशक का प्रयोग नहीं होता।

८. **डिम**—इसकी कथा ऐतिहासिक अथवा पौराणिक होती है; इंद्रजाल, माया, छल, सग्राम अथवा क्रोध तथा उन्मत्तावस्था का इसमे समावेश रहता है। इसमें देवता, राक्षस, भूत, पिशाच आदि १६ उद्धत नायक होते हैं। अक इसमे चार होते है।

९. **ईहामृग**—ईहामृग मे नायक हरिणी के समान सुंदर नायिका की इच्छा करता है। इसमें चार अंक होते है और कथानक मे इतिहास तथा कल्पना दोनो का ही मिश्रण होता है। इसका नायक तथा प्रति-नायक प्रसिद्ध धीरोद्धत मानव अथवा कोई देवता होता है। इसमे प्रेम-कथा रहती है और किसी अलौकिक रूप-सपन्न नायिका के लिये युद्ध तक की नौबत पहुच जाती है, परंतु जो किसी प्रकार टल जाता है।

१०. **अंक**—इसमे एक ही अंक होता है। साधारण पुरुष इसका नायक होता है। कथा इतिहास-प्रसिद्ध होती है। इसमे युद्ध ठनता है; परंतु वाणी तक ही परिमित रह जाता है, और इसी वाणी-युद्ध मे जय-पराजय का निर्णय हो जाता है। युद्ध की प्रधानता के रहते हुए भी इसमे स्त्रियों का विलाप पर्याप्त मात्रा मे रहता है। इस कारण इसमे करुणरस की प्रधानता हो जाती है। पुराने साहित्य में इसका एक दूसरा

नाम 'उत्सृष्टिकाक' भी है। आज के साहित्य मे इसी को 'एकाकी नाटक के नाम से पुकारा जाता है। यही एकाकी हमारे नाटकों का स्थान लेते जा रहे हैं। परंतु यह जान लेना चाहिये कि आज के एकाकी प्राचीन पारिभाषिक बंधनो का पूरा-पूरा भार वहन करते हो सो बात नही।

परिभाषा मे बँधकर चलना आज के कलाकार अपने लिये सम्मान की बात नही समझते। नवीनता ही उनके लिये एक गौरव की वस्तु है। यो तो प्राचीन नाटको मे भी मंजे हुए नाटककार इन बंधनो मे अधिक बधने के इच्छुक नहीं रहे होगे परंतु रूपको के इन दसभेदो तथा अठारह उपभेदो मे से किसी न किसी के अंतर्गत हो जाने से उनकी रचना नियम की परिधि मे आ ही जाती थी। हमारे विचार मे रूपक के अठारह उपभेदों की कल्पना तो केवल कलाकारो के सुभीते के लिये ही हुई होगी। जितने प्रकार की रचना देखी जाती रहीं उतने ही भेद होते चले गये। परंतु यह भी तत्कालीन आचार्यों की बुद्धिमत्ता ही थी जिसके द्वारा नाटककार किसी प्रकार से संगठित ही रहें।

रूपक के दस भेदो के अतिरिक्त उसके जो अठारह उपभेद भी थे इन्हो को उपरूपक कहा गया है। यहा संक्षिप्त रूप से इन्ही का उल्लेख किया जाता है—

उपरूपक

जैसा कि ऊपर बता आये हैं, उपरूपक के अठारह भेद होते है जिनके नाम इस प्रकार हैं:—

१	नाटिका	१०.	प्रेखण
२	त्रोटक	११	श्रीगदित
३.	गोष्ठी	१२.	संलापक
४	सट्टक	१३.	शिल्पक
५.	रासक	१४.	भणिका
६.	काव्य	१५.	हल्लीश
७	उल्लाप्य	१६.	विलासिका
८.	प्रस्थानक	१७.	दुर्मल्लिका
९	नाट्यरासक	१८	प्रकरणिका

१. **नाटिका**—इसमे नाटक और प्रकरण का मिश्रित रूप रहता है। पात्रो मे अधिक सख्या स्त्रियो की होती है। नायक धीर-ललित राजा होता है। और नायिका राजवंश की कोई प्रवीण गायिका अथवा रनिवास से संबंध रखनेवाली अन्य कोई अनुरागवती सुंदरी। नायक-राजा की रानी इस प्रेम की बाधक होती है। नायक नायिका का सम्मिलन उसी पर निर्भर होता है। इसमे चार अंक होते है। कथा कल्पित होती है और इस श्रृगार प्रधान रहता है।

२. **त्रोटक**—यह शेष बातों मे नाटक के समान ही होता है वैसे इसमे ५, ७, ८ या ९ अक होते है। पात्रो मे देवता तथा मनुष्य दोनो ही उसमे रहते है। श्रृगार रस प्रधान होता है; परंतु विदूषक की व्यवस्था भी प्रत्येक अंक मे होती है।

३. **गोष्ठी**—इसमे ९–१० पुरुष तथा ५–६ स्त्रिया होती हैं। अंक केवल एक होता है; काम श्रृंगार की प्रधानता रहती है।

४. **सट्टक**—यह प्रायः नाटिका के सदृश होता है। इसके अंक

जवनिका कहलाते है। सारी रचना प्राकृत मे रखने का विधान है। अद्भुत रस प्रधान होता है।

५. **रासक**—इसमे केवल एक अंक होता है। पात्रो की संख्या ५ होती है। इसमे नायक मूर्ख होता है और नायिका प्रसिद्ध। सूत्रधार इसमे होता नही और रचना मे भाषा की विभिन्नता रहती है।

६. **काव्य**—इसमे भी एक ही अक होता है। हास्य की व्यापकता रहती है। गीतो का बाहुल्य होता है। नायक और नायिका दोनों श्रेष्ठ होते है।

७. **उल्लाप्य**—उल्लाप्य मे किसी के मतानुसार एक अंक होता है और किसी के मतानुसार तीन। नायक धीरोदात्त होता है तथा उसकी चार नायिकाएँ होती है। कथानक अलौकिक होता है और शृंगार, करुण तथा हास्य रस होते हैं।

८. **प्रस्थानक**—इसमें दो अंक होते हैं। नायको की सख्या दस होती है और सबकी नायिका एक दासी होती है। कथानक मे हीन चरित्रो की व्यापकता रहती है।

९. **नाट्यरासक**—इसमे अंक एक होता है। यह हास्यरस प्रधान होता है, साथ ही शृंगार का भी इसमे समावेश रहता है। कोई सुदर कामिनी इसकी नायिका होती है।

१०. **प्रेखण**—इसमे भी, एक ही अक होता है। नायक हीन-पुरुष होता है। इसमे न सूत्रधार होता है न विष्कंभक और न प्रवेशक।

११. **श्रीगदित**—इसमे कोई प्रसिद्ध कथा होती है। अंक एक रहता है और नायक धीरोदात्त होता है। इसके नाम से कुछ व्यक्तियो ने अनुमान लगाया है कि इसमे नायिका लक्ष्मी रूप में गाती हुई आती है।

१२. **संलापक**—इसमे तीन या चार अंक होते हैं। इसका नायक पाखण्डी होता है। संग्राम, भगदड आदि का वर्णन रहता है इसी लिये इसमे न शृंगार रस रहता है और न करुण।

१३. **शिल्पक**—इसमे चार अंक होते है। इसका नायक ब्राह्मण होता है और उपनायक हीन-पुरुष। रसो मे शात और हास्य को छोड़-कर अन्य कोई भी रस हो सकता है। प्रायः मरघट और मुर्दों का वर्णन रहता है।

१४. **भाणिका**—इसमे एक अक होता है। इसका नायक मूर्ख परंतु नायिका चतुर होती है। यह एक प्रकार से भाण के जोड का उपरूपक है।

१५. **हल्लीश**—अक इसमे भी एक ही रहता है। नायक उदात्त पुरुष होता है। स्त्रियो की संख्या ७, ८ या १० होती है। संगीत मे लय-तान का विशेष ध्यान रखा जाता है।

१६. **विलासिका**—इसमे भी एक अंक होना चाहिये। नायक गुणहीन, परंतु वेशभूषा से सज्जित होना चाहिये। वृत्तात थोड़ा, परतु हास्य की व्यवस्था अवश्य हो।

१७. **दुर्मल्लिका**—इसमे चार अंक होते है, जिनमे ४८ घडियों का व्यापार वर्णित होता है। नायक तो इसमे छोटी जाति का होता है, परतु वैसे सभी पुरुष-पात्र चतुर होते है।

१८. **प्रकरणिका**—यह प्रकरण के जोड़ का उपरूपक है। इसका नायक व्यापारी होता है और उसकी नायिका उसी की जाति की होती है। शेष बातो मे प्रकरण के समान ही होता है।

रूपको के ये उपभेद नाम-मात्र का अंतर रखते है। नाटककारो ने सदैव इन बंधनो का पूरा-पूरा ध्यान रखकर नाट्यरचना की होगी, यह मान लेना सर्वथा भूल होगी। रूपक के भेद भी प्राचीन संस्कृत नाटको का ही नियमन करते रहे। और हमारे आज के नाटक तो उन बंधनो की चिंता ही कहा करते हैं! हमारे यहा तो साहित्य के सभी अंग और सभी विभाग स्वयभू स्रष्टाओ की रचना बनकर विकसित होते दिखाई देगे; इसी लिये रूपक के भेदोपभेदो के ठीक-ठीक उदाहरण तो हमारे नाट्य-साहित्य मे शायद ही मिल सके।

इन भेदोपभेदो की पारिभाषिक विशेषताओं के अतिरिक्त हमारे नाटको के संबध मे और भी नियम या बंधन थे जिनमे से कुछ आवश्यक बातों का उल्लेख आगे करेंगे।

रंगशाला

प्राचीन समय के नाटक रगमंच पर खेले जाते थे या केवल पढ़ने के लिये ही होते थे? इस विषय पर यद्यपि विद्वानों मे मतभेद रहा है, परतु इस प्रकार की रचना को दृश्य-काव्य के नाम से अभिहित करना सिद्ध करता है कि नाट्य-संबंधी रचना का संबंध रगमंच से अवश्य रहा होगा। ये मंच बड़ी-बड़ी रंगशालाओं में रहे होंगे और इन्ही के भीतर बैठ-बैठ कर दर्शक लोग नाट्यदर्शन से लाभ प्राप्त करते रहे होंगे, इसी लिये इनका नाम प्रेक्षागृह भी पड गया होगा। वे रंगशालाएं अथवा प्रेक्षागृह कथा तथा दर्शको की स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के रहे होंगे। नाट्यशास्त्र के सर्वप्रथम ज्ञात आचार्य भरत ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'नाट्य-

शास्त्र' मे तीन प्रकार के प्रेक्षागृह बताये है:—त्र्यस्र, विकृष्ट और चतुरस्र। त्र्यस्र त्रिभुजाकार होता था और निकृष्ट माना जाता था। विकृष्ट उत्तम श्रेणी का था और उसकी लंबाई चौड़ाई से दो गुनी थी। जनता के लिये इसी प्रकार के रंगमंच को विशेषता दी जाती थी। चतुरस की रचना वर्गाकार ढग की होती थी, और उसका उपयोग केवल देवता, धनी-मानी तथा मध्यम श्रेणी के लोगो के लिये होता था। यह मध्यम श्रेणी का रंग-मच्च था। सर्वोत्कृष्ट रंगमंच विकृष्ट कोही माना गया था। उसमे तीन बराबर-बराबर भाग रहते थे। सबसे पिछले भाग का नाम नेपथ्य था। किसी भी प्रकार की जनध्वनि अथवा शोर-शराबे के लिये इसी का उपयोग होता था। दूसरा भाग दो बराबर भागो मे बंटा होता था। इसमे से पहला जो कि नेपथ्य के साथ का होता था वह रंगशीर्ष कहलाता था। रंगशीर्ष विशेष रूप से सजाया जाता था और उसमे अनेक पर्दे होते थे। प्रारंभिक पूजा भी इसी में होती थी। अभिनय का प्रायः कार्य इसी स्थली मे होता था। दूसरा भाग, जो इससे आगे होता था, रंगपीठ कहलाता था। इसमे प्रायः नाच रंग जमता था। सूत्रधार की प्रथम सूचना भी इसी भाग से होती थी। रंगशीर्ष और रंगपीठ के मध्य मे वह पर्दा होता था जो आज तक जवनिका के नाम से प्रसिद्ध है। संपूर्ण स्थली का तिहाई भाग शेष रह जाता था जो रंगपीठ के आगे होता था और दर्शक लोग इसी में बैठकर नाटक देखते थे। इस स्थली मे विभिन्न रंग के खंभे लगे होते थे जिनसे यह जाना जाता था कि कौनसा भाग किस वर्ण के बैठने के लिये नियत है।

इस रंग मंच की पूरी व्याख्या समझने के लिये आगे दिया हुआ चित्र अत्युपयोगी सिद्ध हो सकेगा:—

विकृष्ट रंगशाला
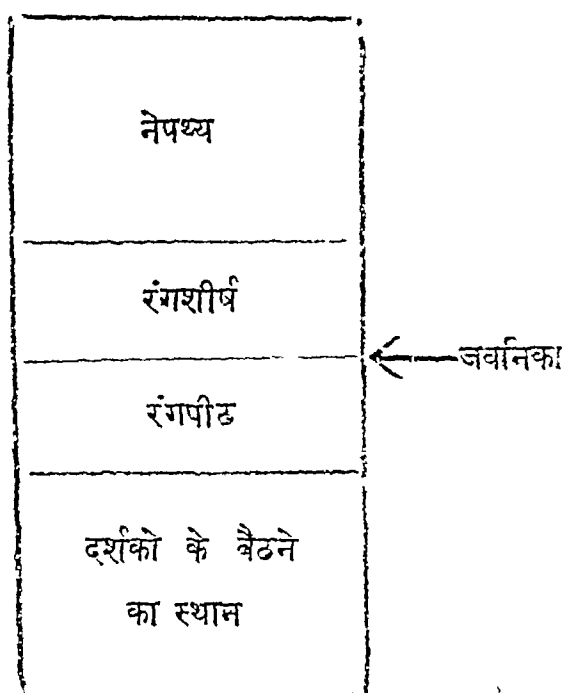
जनसाधारण के लिये इसी रंगमंच का उपयोग होता था। भारतीय रंगमंच किसी काल मे अपनी कला का अच्छा नमूना रहा होगा। भारतीय स्थापत्य कला के विशेषज्ञों ने उसके गौरव-वर्द्धन मे कोई कमी उठा नही रखी होगी। सरगुजा रियासत के रामगढ स्थान मे दो पहाडी गुफाओं मे से एक मे एक प्रेक्षागृह भी बना है जिसे आज से लगभग २३०० वर्ष पूर्व सुतनुका नाम की देवदासी ने नर्तकियो के लिये बनवाया था। कुछ लोगों का अनुमान है कि इस प्रेक्षागृह पर यूनानी कला का प्रभाव रहा है, परंतु जहां उसकी चित्रकारी का सारा ढाचा भरत मुनी के नाट्यशास्त्र के आधार पर सिद्ध हो जाता है वहा उस प्रेक्षागृह की भार-

तीयता पूर्ण रूप से सिद्ध हो जाती है। भारतीय रगमंच सचमुच भारतीय था और उसका विकास भी भारतीय मदिर-निर्माण-कला की भाति बहुत काल पहले ही हो चुका था। भारतीय आदर्श और स्वदेश-प्रियता में कलाक्षेत्र के भीतर नकल का दखल रहा होगा, यह केवल कल्पना ही नहीं अपितु अच्छा खासा भ्रम कहा जा सकता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि सिकंदर के समय तक यूनान के दार्शनिक भारतीय दार्शनिकों के दर्शनों के प्यासे थे। भारत पर आक्रमण के लिये प्रस्थान करते समय सिकंदर को गुरु अरस्तू ने आदेश दिया था कि विजयी होकर लौटते समय भारतीय दार्शनिकता के भाडार किसी ब्राह्मण को भी साथ लेते आना। कहते है, लौटते समय सिकदर ने किसी विद्वान् ब्राह्मण को उसके विरोध करने पर भी बलपूर्वक अपने साथ लिया, परन्तु उसने भारतीय सीमा पर अपने प्राण विसर्जन कर दिये। यह हमारा उस समय का आत्माभिमान था और यह हमारी उस समय की कला थी। और उस समय हमारी कला का प्रभुत्व भी था इन्ही आत्माभिमानियो के हाथो मे। अब भला अनुमान लगाइये कि क्या उस काल मे किसी विदेशी छाया की आशंका रही होगी!

यवनिका शब्द में यूनानी प्रभाव का भ्रम

यवनिका शब्द के चक्कर में पड़कर कई विद्वानो ने यह अनुमान लगाया है कि भारतीय नाटकों का आधार यूनानी नाटक हैं, परंतु अनुसधान से यह अनुमान अनुमान ही रह जाता है। यवनिका शब्द का संबंध यूनान से जोड़कर ही ऐसे अनुमान लगाये गये थे, परतु उन्होंने यह नही देखा कि वस्तुतः हमारे यहा इस शब्द का "जवनिका" रूप मे प्रयोग हुआ है। और इस जवनिका शब्द

की व्युत्पत्ति "जव्" धातु से हुई है, जिसका अर्थ है वेग अथवा तेजी। नाटक का यह पर्दा चूंकि बड़ी तेजी से गिराया जाता था इसलिये इसका नाम जवनिका पड़ गया होगा। अमरकोष और हलायुध मे यह शब्द जवनिका रूप मे ही प्रयुक्त हुआ है न कि यवनिका रूप मे :—"प्रतिसीरा **जवनिका** स्यात् तिरस्करिणी च सा" (अमरकोष) तथा "अपटी काड पटः स्याम् प्रतिसीरा **जवनिका** तिरस्करिणी" (हलायुध)।

कुछ भी सही, इन प्रमाणो के रहते भारतीय नाट्यकला पर विदेशी प्रभाव स्वीकार करने को हम तो प्रस्तुत नही। भले ही बहुत पीछे आकर कुछ आदान-प्रदान हुआ हो, परंतु उसके विकास मे तो कभी कोई विदेशी उधार खाया नही गया। अतः उसकी मौलिकता अभंग है।

कथावस्तु

दृश्य काव्य की कथा को ही कथावस्तु कहते हैं। सक्षेप मे इसे ही वस्तु का नाम दिया जाता है और इसी प्रकार इसका एक नाम है कथानक। वस्तु के दो प्रमुख भेद हैं, १—आधिकारिक और २—प्रासगिक। पहला भेद कथा का मौलिक अंग होता है और दूसरा गौण। गौण कथा मूल कथा मे सहायता देती है। आधिकारिक नाम साभिप्राय है, क्योकि कथा के प्रमुख फल को भोगने का अधिकार इसी को प्राप्त होता है। इस फल के भोक्ता को अधिकारी कहते है। प्रसंगवश आई कथा को प्रासंगिक वस्तु कहा जाता है। इसके दो भेद हो जाते हैं—'पताका' और 'प्रकरी'। प्रासगिक कथा जब आधिकारिक के साथ अंत तक संबद्ध रहती है तो उसे पताका कहा जाता है और जब वह मध्य मे ही रुक जाय तो वह प्रकरी कहलाती है।

आधार-संबंध लेकर कथानक को तीन भागों में विभक्त किया गया था। वे भाग ये हैं :—

१—प्रख्यात, २—उत्पाद्य, ३—मिश्र।

ऐतिहासिक अथवा पौराणिक आधार लेकर चलनेवाली वस्तु प्रख्यात कहलाती थी ; कल्पना का आधार लेकर चलनेवाली वस्तु को उत्पाद्य कहा जाता था और इन दोनों का मिश्रित रूप मिश्र कहलाता था।

हमारे आज के नाटकों का विभाजन इन प्राचीन ढंगों पर नहीं होता; अपितु आज के दिन तो उनमें हमारी समस्याएं ही प्रमुख रूप से रहती हैं। इसी लिये वे धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा अन्य समस्यामूलक कहलाते हैं।

कथोपकथन की दृष्टि से वस्तु के तीन भेद और भी हैं:—**श्राव्य; अश्राव्य और नियत-श्राव्य**। जिसको सब पात्र सुन सकें वह श्राव्य कहलाता है, इसे प्रकाश भी कहते हैं। जो सुनने योग्य न हो उसे अश्राव्य कहते हैं, इसी का दूसरा नाम स्वगत है। स्वगत कथन में पात्र इस प्रकार बोलता है मानों वह जो कुछ कह रहा है, वह इस ध्यान से कह रहा है कि और कोई उसे सुनता ही नहीं। तीसरा भेद जिसे नियत-श्राव्य कहा जाता है, उसमें दर्शकों की नियत संख्या को बात सुना दी जाती है और शेष से छिपा ली जाती है। इसमें या तो मुंह फेरकर बात की जाती है और या अंगुलियों की ओट करके बात कह दी जाती है।

स्वगत के ढंग का एक भेद और भी है, इसे **आकाश-भाषित** कहते हैं। इसमें पात्र आकाश की ओर मुंह करके इस प्रकार कथन करता है मानो उधर उसके साथ कोई बात सुनने और उसका उत्तर देनेवाला बैठा है।

संपूर्ण रूपक-रचना का खंडशः विभाजन भी होता है। इस प्रकार के इन विभाजनो के नाम ये हैं :—

अंक, विष्कंभक, प्रवेशक, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार और दृश्य।

अंक—अक मे नाटक की एक गति-विधि या एक सबंद्ध घटना का उल्लेख रहता है। इसे एक प्रकार से नाटक का अध्याय कहा जा सकता है।

विष्कंभक—जो कथा बीत चुकी हो अथवा होनी शेष हो उसका सक्षिप्त वर्णन विष्कंभक में होता है। इसमे मध्यम, तथा मध्यम और नीच दोनों प्रकार के मिश्रित पात्रों का प्रयोग होता है।

प्रवेशक—प्रवेशक दो अंको के मध्य मे आता है। इसमे पिछली बीती हुई तथा आगे घटनेवाली उन बातों का उल्लेख होता है जो रंग-मंच पर न दिखाई जा सकती हों। प्रवेशक के पात्र नीच श्रेणी के होते हैं।

चूलिका—इसमे नेपथ्य के भीतर से किसी रहस्य की सूचना दी जाती है।

अंकास्य—इसमे एक अंक के अंत मे उसके आगेवाले अंक मे होनेवाली बातो के आरंभ की सूचना पात्रो-द्वारा दी जाती है।

अंकावतार—इसमें एक अंक की कथा दूसरे अंक मे लगातार चलती रहती है। बस इतना होता है कि पहले अंक के अंत मे पात्र बाहर जाकर अगले अंक के आरंभ मे फिर रंगमंच पर आ जाते हैं।

अवस्थाएं

अवस्थाओ से अभिप्राय है नाटक की विभिन्न स्थितिया। ये अवस्थाएं कथा की स्थिति के अनुसार वस्तु का क्रमिक विभाजन है। इनके नाम ये हैं :—१—प्रारंभ, २—प्रयत्न, ३—प्राप्त्याशा, ४—नियताप्ति, ५—फलागम।

१. प्रारंभ—इसमें किसी फल की प्राप्ति के लिये उत्सुकता होती है।

२. प्रयत्न—इसमे फल-प्राप्ति के लिये पूरा प्रयत्न किया जाता है।

३. प्राप्त्याशा मे असफलता की आशंका के साथ-साथ चलते रहते भी सफलता की संभावना हो जाती है।

४. नियताप्ति—यहा आकर सफलता का निश्चय हो जाता है।

५. फलागम—फलागम में कार्यसिद्धि होकर सफलता प्राप्त हो जाती है। अर्थात् प्रारंभ की इच्छापूर्ति यहा पर हो जाती है।

इसी प्रकार प्राचीनों ने नाटकों मे संधिया भी मानी थीं। ये संख्या में ५ हैं।

संधियां

१. मुखसंधि—यहा प्रारंभ नाम की अवस्था के साथ योग होने से अनेक अर्थों और रसो के व्यंजक बीज की उत्पत्ति होती है।

२. प्रतिमुख—प्रतिमुख मे बीज अंकुरित होता हुआ दिखाई पड़ता है। इसी से घटनाक्रम आगे चलता है।

३. गर्भसंधि—इसमे अंकुरित बीज का और भी अधिक विस्तार हो जाता है।

४. अवमर्श अथवा विमर्श-संधि—इसमे गर्भसंधि की अपेक्षा बीज का अधिक विस्तार होता है परंतु उसके फलोन्मुख होने पर शाप, क्रोध और विपत्ति आदि के विघ्न आ उपस्थित होते हैं।

५. निर्वहण अथवा उपसंहार—इसमे पूर्वकथित चारो संधियो में वर्णित प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है।

अर्थप्रकृतियां

अर्थप्रकृतियों को कथावस्तु के चमत्कारपूर्ण अंग कह सकते हैं। इनका कार्य कथावस्तु को कार्य की ओर ले जाना होता है। अवस्थाओं और संधियो की भांति संख्या मे ये भी ५ ही है :—१-बीज, २-बिंदु, ३-पताका, ४-प्रकरी, ५-कार्य।

१. बीज—प्रमुख फल के हेतु स्वरूप उस प्रमुख कथाभाग को कहते हैं जो क्रमशः विस्तृत होती जाये। पहले इसका कथन बहुत सूक्ष्मता से होता है परंतु व्यापार-श्रृंखला के साथ-साथ इसका भी विस्तार होता चलता है।

२. बिंदु—वह बात जो निमित्त बनकर समाप्त होनेवाली अवान्तर कथा को आगे बढाये और प्रधान कथा को अविच्छिन्न रखे, बिंदु कही जाती है।

३. पताका—पताका एक अवांतर कथा को कह सकते है, परंतु इस कथा का नायक अपना पृथक् महत्त्व नहीं रखता इसलिये यह अवांतर

कथा मूल कथा के विकास मे प्रमुख सहयोग देती है।

४. **प्रकरी** प्रकरी मे भी एक अवातर कथा ही रहती है जो मूल कथा की सहायता करती है, परंतु इसकी स्थिति तक छोटे वृत्त के रूप मे होती है और वर्णन स्थानीय ही रहता है।

५. **कार्य**—कार्य अंतिम फल को कहते हैं। इसी के लिये सब उपायो का आरंभ होता है।

पीछे हमने अवस्थाओ, सधियो और अर्थप्रकृतियो के संबंध मे उल्लेख किया है। भले ही इन तीनो का प्रयोग भिन्न-भिन्न विचारों से होता है तो भी इनमे से प्रत्येक के पाच-पाच भेद एक दूसरे के अनुकूल होते है और उनमे एक प्रकार से तात्त्विक सहयोग होता है। इनमे से अवस्थाओ का संबंध कार्य-व्यापार से होता है, संधियों का रूपक-रचना के विभागो से तथा अर्थ-प्रकृतियों का वस्तु के तत्त्वो से। इस वास्तविकता को समझने के लिये निम्न सारिणी को ध्यान से देखिये :—

अवस्थाए या कार्य-व्यापार	अर्थ–प्रकृति या वस्तु–तत्त्व	संधि
१. आरंभ	१. बीज	१. मुख
२. प्रयत्न	२. बिंदु	२. प्रतिमुख
३. प्राप्त्याशा	३. पताका	३. गर्भ
४. नियताप्ति	४. प्रकरी	४. विमर्श
५. फलागम	५. कार्य	५. निर्वहण

इस प्रकार मिलान कर लेने से इनकी संबद्धता स्पष्ट हो जाती है।

वृत्तियां

"एता बुधैर्ज्ञेया वृत्तयो नाट्यमातरः ।"

—भरत मुनि

भरत मुनि का कथन है कि इन वृत्तियों को नाटक की माताएं समझना चाहिये । एक और प्राचीन आचार्य का मत है कि जो रसास्वादन का प्रधान कारण हो उसे वृत्ति कहते हैं । वृत्तिया ४ हैं—

१. भारती, २. सात्वती, ३. कैशिकी और ४. आरभटी । इन चारो का जन्म क्रमानुसार ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्ववेद से माना जाता है ।

१. भारती वृत्ति—इस वृत्ति का प्रमुख संबंध भरतों (नटो—नर पात्रों) से रहता रहा, इसलिये इसका नाम भारती वृत्ति प्रसिद्ध हो गया । स्त्रिया इसमे वर्जित मानी गई थीं । इसमे पात्रों की भाषा उच्च वर्ग के लोगों की भाषा अर्थात् सस्कृत रहती थी । विद्वानो का कथन है कि इस वृत्ति का संबध नाटक के प्रारंभिक कृत्यो से रहता था । इसमे लगभग सभी रसो की पहुँच रहती है ।

२. सात्वती वृत्ति—सात्वती का संबंध दान, दया और शौर्य तथा कौशल से होता है । इससे आनद-प्राप्ति होती है । इसमे वाणी का तेज रहता है और कार्य इसके वीरोचित रहते है । प्रमुखता इसमे वीररस की रहती है ।

३. कैशिकी वृत्ति—इसका संबध गीत, नृत्य, विलास, रति आदि से होता है । यह वृत्ति बडी मनोहर है । स्त्रियो का व्यापार प्रमुख रहने से यह वृत्ति अति मधुर मानी गई है ।

४. आरभटी वृत्ति—इस वृत्ति मे संग्राम, क्रोध, माया, इंद्रजाल, छल और संघर्ष दिखाया जाता है। इसका प्रयोग रौद्ररस मे होता है।

नाटक में पात्रों की भाषा

नाटक के सभी पात्र एक ही श्रेणी के नहीं होते। उच्च, मध्य तथा निम्न वर्गों मे विभाजित होने से उनका रहन-सहन और बोल-चाल की भाषा भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होगी। इसी वास्तविकता को दृष्टि मे रखते हुए प्राचीन आचार्यों ने नाटकों के पात्रो की भाषा के लिये यह नियम बना दिया था कि जो पात्र जिस वर्ग का है वह उसी वर्ग की भाषा का प्रयोग करे। इस प्रकार का निर्देश करनेवालो ने विभिन्न जाति के पात्रो के लिये अनेक विभिन्न भाषाओ के प्रयोग का आदेश किया। साहित्य दर्पणकार ने भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगो की भिन्न-भिन्न भाषाए गिना-गिनाकर अत मे थककर कह डाला है—"यद्देश्य नीच-पात्रं तु तद्देश्यं तस्य भाषितम्।" अर्थात् नीच पात्र जिस देश का हो उसी देश की भाषा का प्रयोग करे। फिर आगे चलकर यह भी कह डाला—"कार्यतश्चोत्तमादीना कार्यो भाषाविपर्ययः।" अर्थात् उत्तम पात्रों की भी भाषा प्रयोजन के अनुसार बदल जानी चाहिये। प्राचीन नाटकों मे इन नियमो का पूरा-पूरा परिपालन भले ही न हुआ हो, परंतु इतना तो रहा ही कि नायक और उसके निकटवर्ती सस्कृत का प्रयोग करते रहे और दास-दासियो ने प्राकृत तथा अपभ्रंशों का प्रयोग किया। ऐसा करने का उद्देश्य एक स्वाभाविकता का परिपालन-मात्र था इसके अतिरिक्त उसमे और कोई विशेष रहस्य नहीं था। यह बात उसी प्रकार मे होती थी

जिस प्रकार आज-कल भी संभ्रात व्यक्तियों की भाषा अन्य प्रकार की होती है और उनके नौकर-चाकरों की उससे भिन्न प्रकार की।

संबोधन-संकेत

नाटकों में छोटे-बड़े तथा समान पद वालों को उनके पद के अनुसार संबोधित करने का विधान है। किसका किस नाम से निर्देश किया जाये; इसका विस्तृत उल्लेख मिलता है, जिनमें से कुछ संबोधन-संकेत यहां प्रस्तुत करते हैं।

पूज्य जनों के प्रति

संबोधक	संबोधित	संबोधन-संकेत
मुनि	नृपति	राजा, अथवा अपत्यवाचक प्रत्यय लगा नाम; यथा वसुदेव के पुत्र को वासुदेव।
ब्राह्मण	,,	नाम लेकर
विदूषक	,,	सखे, राजन्
ब्राह्मण	मंत्री	अमात्य, सचिव
प्रजा, सेवक	राजा	देव
परिजन	,,	भट्टारक, भट्ट
राजा	पटरानी	देवी
,,	शेष रानियां	प्रिये
पुत्र	पिता	तातपाद
,,	माता	अंब

समान जनों के प्रति

संबोधक	संबोधित	संबोधन-संकेत
स्त्री	स्त्री	हला, सखी
पुरुष	पुरुष	वयस्य

कनिष्ठ जनों के प्रति

स्वामी	अनुचर	नाम-द्वारा संबोधन
गुरु जन	शिष्य या सुत	तात, वत्स, पुत्र
प्रत्येक	नीच	हडे
प्रत्येक	अति नीच	हंजे

नाट्य-शास्त्रों के विधानानुसार पात्रों के नाम-करण के संबध मे उल्लेख है कि कैसे पात्र का कैसा नाम होना चाहिये। इसी प्रकार वेश्याओं के नाम के साथ अंत मे प्रायः सेना या दत्ता शब्द रखने का आदेश है, यथा—वसंतसेना और पद्मदत्ता।

नाटक के प्रमुख पात्र

नायक

रूपक के प्रधान पात्र को नायक कहते है। प्राचीन नियमों के अनुसार उसका नाटक में आदि से अंत तक वर्तमान रहना आवश्यक है।

साथ ही वह अनेक गुणों से परिपूर्ण और कलाविज्ञ होना चाहिये, परंतु आज इन नियमों का बंधन नहीं माना जाता। आज के नाटककारों के यहां तो शराबी और जुएबाज तक नायक हो सकते हैं। हां. कथा की गति का उससे संबंध अवश्य होना चाहिये।

नायकों के प्रमुखतया चार भेद हैं—१--धीरोदात्त, २--धीरललित, ३--धीर-प्रशात और ४--धीरोद्धत।

१. **धीरोदात्त नायक**–ऐसे नायक में शक्ति, क्षमा, दृढ़ता, आत्मगौरव, निरभिमानिता और विनय का समावेश रहता है। इसके धैर्य की उदात्तता भी महान् होती है। राम और युधिष्ठिर इसी प्रकार के नायक हैं।

२. **धीरललित नायक**–यह नायक कलाविद्, सुखान्वेषी तथा निश्चित-मना होता है। इसका स्वभाव बहुत कोमल होता है। दुष्यंत धीरललित का सुंदर उदाहरण है।

३. **धीरप्रशांत नायक**–ऐसा नायक स्वभाव से संतोषशील होता है इसलिये या तो ब्राह्मण होता है या वैश्य; परन्तु क्षत्रिय कभी नहीं होता। इस नायक में कुछ गुण धीरललित के भी होते हैं। मालती माधव का माधव ऐसा ही नायक है।

४. **धीरोद्धत नायक**–ऐसा नायक उद्धत, चंचल और प्रचंड स्वभाव का होता है। यह बहुत छलिया और अभिमानी होता है। भीम और मेघनाद इसी के उदाहरण हैं। ऐसे नायक में गुणों के बदले दोष ही अधिक होते हैं, इसलिये किसी-किसी आचार्य ने तो इसे नायक गिना भी नहीं है।

एक दूसरी दृष्टि से नायक के चार भेद और किये गये हैं—अनुकूल,

दक्षिण, शठ और धृष्ट। अनकूल एक-पत्नी-व्रत होता है। दक्षिण व्यवहार मे दक्ष होता है वह अनेक नायिकाएं रखता है, परंतु नयी के प्रेम को विशेषता देकर भी पुरानी की प्रीति तोड नहीं लेता। शठ नायक साक्षात् रूप से एक ही नायिका से संबंध रखता है; परंतु छिपे ढंग पर और नायिकाओ से भी प्रेम रखता है। पत्नी के डर से वह अन्य नायिका अथवा प्रेमिका की प्रेम-कथा छिपाता ही रहता है। धृष्ट नायक पूरा ढीठ होता है। वह पत्नी की चिंता कभी नहीं करता। अन्य नायिका की प्रेम-कथा सुनाकर वह अपनी पत्नी का दिल जलाने मे कभी नही चूकता।

इसी प्रकार और भी भेदोपभेद हो जाने से नायकों की संख्या १४४ हो जाती है। विस्तार-भय से इनका उल्लेख नही किया जाता।

नायिका

नायक की प्रिया अथवा पत्नी को नायिका माना गया है परतु आज के कथात्मक साहित्य मे यह नियम आवश्यक नही रह गया है। आज की नायिका के लिये आवश्यक नियम है—वह कथा-प्रवाह मे अन्य सभी स्त्रियो मे प्रधान स्थान रखती हो। हा, व्यक्तिगत गुणों मे वह नायक-तुल्य ही होगी।

नायिका-भेद

आचार्यों ने नायिका के भेदोपभेदो को संख्यातीत सा कर दिया है, परतु फिर भी नायिका के तीन भेद प्रमुख रूप से स्वीकार किये है :—

१-स्वकीया, २-परकीया, ३-सामान्या

इनमे स्वकीया को पत्नी समझना चाहिये, परकीया को पराई। परकीया नायिका विवाहिता भी हो सकती है और अविवाहिता भी। सामान्या पर किसी का अधिकार नियत नहीं होता; उसे साधारण अर्थों में गणिका अथवा वेश्या कह सकते है।

विस्तृत नायिका-भेद अपनी सरस शृंगारिकता से अश्लीलता की परिधि मे आ जाता है; इसलिये हम इस विषय को यहीं पर समाप्त कर देंगे।

प्रतिनायक

नाटक मे नायक का प्रमुख विरोधी पात्र प्रतिनायक कहा जाता है।

नायक के सहायक पात्र

विदूपक, विट और चेट।

विदूपक, विट और चेट तीनो ही नायक के सहायक होते है, परंतु अधिकार-दृष्टि से तीनो मे कुछ-कुछ अंतर रहता है। इनमे चेट तो नायक का दास-मात्र होता है। विट होता है नायक का निजी स्वामिभक्त सेवक और वाद्य-गायन तथा नृत्य मे निपुण। वैसे वह धूर्त, निपुण और वाचाल होता है।

विदूषक का काम लोगो को हंसाना है। नायक के साथ हंसी-ठट्ठा करने का इसे पूरा अधिकार होता है। इसकी वेष-भूषा, बोल-चाल और आचार-व्यवहार सभी कुछ हंसी का कारण होता है। खाने के संबंध मे बड़ा लालची और पेटू होता है। झगड़ा लगाने मे चतुर होता है।

नायक के साथ इसका मैत्री का संबंध होता है। यह जाति का ब्राह्मण होता है और नायक का इस पर बड़ा विश्वास रहता है।

इन पात्रो के अतिरिक्त और भी अनेक पात्र हैं जो अपनी प्रमुख सत्ता रखते हुए नायक के लिये सहायक रूप सिद्ध होते हैं; यथा मंत्री, पुरोहित, ऋत्विक्, कोषाध्यक्ष, धर्माध्यक्ष, कचुकी (अंतःपुर मे रहनेवाला पात्र) तथा दूत आदि।

अभिनय

नाटकीय वस्तु की अभिव्यक्ति को अभिनय कह सकते हैं। इसके चार प्रकार माने गये है,—**आंगिक वाचिक, आहार्य और सात्त्विक।**

आंगिक अभिनय का संबंध शरीर के विभिन्न अगों से है। शारीर, मुखज और चेष्टाकृत ये आगिक अभिनय के तीन भेद हैं। रसानुकूल आगिक अभिनय का बहुत ऊंचा स्थान है। रस के अनुभावों तथा परिस्थितियो का इससे प्रमुख सबंध रहता है। शरीर के विभिन्न अंगो का हिलाना-जुलाना तो इसके अतर्गत है ही साथ ही रसानुसार दृष्टि-परिवर्तन भी इसी के अतर्गत है, यथा—वीररस मे वीरो की दृष्टि आमने-सामने होंगी। भयभीत हक्का-बक्का होकर इधर-उधर देखेगा तो करुणा मे आख ढीली और गीली हो जायंगी। मुखज अभिनय मे मुखचेष्टा के द्वारा अभिनय होता है और चेष्टाकृत के अतर्गत तैरने, घुड़सवारी करने और पतंग उड़ाने आदि का अभिनय हो जाता है।

वाचिक अभिनय मे पात्र उन व्यक्तियो का वाणी द्वारा अनुकरण करते है जिनका वे वेश धारण करके रंगमंच पर प्रस्तुत होते हैं।

आहार्य अभिनय मे वेश-भूषा का अनुकरण माना गया है।

विभिन्न वर्णों के विभिन्न रंगो का भी अनुकरण होता था। द्विज, देवता और संपन्न व्यक्ति गौर वर्ण के होते थे। सेवकों की पहिचान भी पृथक् ढंग के पहनावे से होती थी। राजा-महाराजा मुकुटधारी; और विदूषक गंजा, इसी लिये रहते थे कि आहार्य अभिनय ऐसी आज्ञा देता है।

सात्त्विक अभिनय में सात्त्विक भावों का प्रदर्शन होता है। स्वेद, रोमाच, कंप, स्तंभ और अश्रुप्रवाह आदि के द्वारा अवस्था का अनुकरण सात्त्विक अभिनय माना गया है। यद्यपि सात्त्विक अभिनय मे भी कायिक सहयोग रहता है फिर भी इसकी स्वतंत्र सत्ता है; क्योकि सात्त्विक अभिनय मे भावों का ही अनुकरण होता है और कायिक अनुकरण मे गतियों का भी। वस्तुतः सात्त्विक भावो का अभिनय सरल कार्य नहीं है; शरीर मे स्तंभ और कंपन का नाट्य तो भले ही कर दिखाया जा सके, और शायद आसुओ के स्थान पर थूक लगाकर बहकाया भी जा सके, परंतु सामान्य जलवायु मे स्वेद और रोमांच कैसे दिखाया जा सकेगा, यह बात बहुत ही विचारणीय है। विज्ञान ने आज के चित्रपट पर इन बातों को भले ही सहल कर दिया हो परंतु प्राचीन रंग मंच पर सात्त्विक अभिनय बहुत ही कम सफलता प्राप्त कर पाता होगा।

अभिनय-कला में रस-महत्त्व

रसात्मक वाक्यो को काव्य कहनेवालो ने रस को काव्य का सब कुछ मान लिया है। और काव्य मे नाटको की महत्ता निर्धारित करनेवालो ने "काव्येषु नाटक रम्यम्" कहकर नाटक को काव्य का सर्वश्रेष्ठ अग स्वीकार कर लिया है। इससे नाटक मे रस की महत्ता स्पष्ट हो जाती है।

रस है क्या वस्तु ? काव्यगत अलौकिक आनंदानुभूति ही रस है।

विभाव, अनुभाव और संचारी भावो से वह संपोषित होता है। रसो की संख्या ६ है और ६ ही उनके स्थायी भाव है। किस स्थायी भाव से कौन रस उत्पन्न होता है, इसे इस सूची से अच्छी तरह समझ लिया जा सकता है—

स्थायी भाव	रस
रति	शृंगार
हास	हास्य
शोक	करुण
क्रोध	रौद्र
उत्साह	वीर
भय	भयानक
विस्मय	अद्भुत
जुगुप्सा	बीभत्स
शम या निर्वेद	शात

आचार्य भरत के मतानुसार केवल ८ ही रस मान्य है। वे शात की स्थिति को स्वीकार नहीं करते। रहे शेष, उनमे से भी प्रमुख ४ ही माने हैं, शेष ४ गौण। शृंगार, वीर, बीभत्स और रौद्र को प्रधानता दी है और शेष चार मे से हास्य की शृंगार से, अद्भुत की वीर से, भयानक की बीभत्स से और करुण की रौद्र से उत्पत्ति मानी है।

करुण में रसानुभूति कैसे ?

करुण रस के संबंध मे एक सदेह जगता है,—करुणा हमें रुलाती है और रस का काम है आनंदानुभूति प्रदान करना। फिर करुण को रस

कैसे कहा जाय ? आखिर रस का काम हंसाना और प्रसन्न करना है न कि रुला-रुलाकर दुःखी करना । निःसंदेह यह संदेह सार्थक है; परंतु यहां हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि प्रभावित होने वाले पाठक, श्रोता अथवा दर्शक का अनुभूति-संबंध रस के आलंबन के साथ तो नाम मात्र को ही होता है। और यदि यह भी कह लिया जाये कि आलम्बन से उसका संबंध होता ही नहीं; तब भी ठीक ही है। संबंध तो वस्तुतः लेखक अथवा कवि की कला के साथ होता है—सचमुच उसकी कला के साथ होता है। इसको इस प्रकार समझने का प्रयत्न कीजिये, :—हमे महाराज हरिश्चंद्र के दुःखो की गाथा ज्ञात है अथवा शकुंतला के प्रेम की गाथा हमारे हृदय मे अंकित है, परंतु न तो हरिश्चंद्र की कष्ट-कथा पढ़े बिना हम रोते ही हैं और न शकुंतला के प्रेम की कथा पढे बिना शृंगारानंदाभिभूत ही होते हैं। हा, जब सत्यहरिश्चंद्र पढ़ते है तो हरिश्चंद्र की कष्ट-कथा पर रो पडते है, और जब शकुंतला पढ़ते है तो शकुंतला और दुष्यंत के प्रेम मे अपनी सत्ता विलीन कर बैठते हैं। तो यह स्पष्ट हो गया कि रसानुभूति का द्वार कलाकार की कला है न कि कथाधार अथवा आलंबन।

इतनी बात समझ लेने के पश्चात् अब यह जानना सरल होगा कि श्रोता अथवा पाठक के मन पर जो रसात्मक प्रभाव पड़ता है वह कलाकार की कला का होता है न कि आलम्बन का। इसी प्रकार जब हम करुण-गाथा के क्षेत्र मे उतरते है तो हम कथा के प्रभाव मे न होकर कथाकार की कला के प्रभाव मे होते हैं। मान लीजिये हम 'साकेत' मे उर्मिला का वियोग पढ़ रहे हैं या यशोधरा गोपा की गाथा। वैसे हम दोनो की प्रसिद्ध कथाओं से तो पहले से ही परिचित हैं; परंतु आसू हम तभी बहाते हैं जब हम उनके करुणामय प्रकरणों में प्रवेश करते हैं। इससे स्पष्ट

है कि प्रभाव तो केवल कलाकार की कला का है। अब, पढ़कर आंसू तो हमें अवश्य आते हैं परंतु वे दुःख के हैं या सुख के? यह तो प्रसिद्ध ही है कि आंसू दुःख मे तो आते ही हैं सुख मे भी आ जाते है। लड़किया जब माता से बिछुड़कर ससुराल को जाती हैं तब तो रोती ही है, परतु जब वे ससुराल से लौटकर माता से मिलती हैं तब भी रोती है। यही मिलन का रोना सुख के आसू रखता है। **सो जब हम किसी करुणाभरी गाथा पर रोते हैं तो उसमे भी कलाकार के कथन के ढग की आनन्दानुभूति मिली होती है।** जहा हम किसी के दर्द पर आँसू बहाते है वहा कलाकार की सफल कला पर प्रसन्न भी होते है। बस यही दुःख मे सुखानुभूति है, आनदानुभूति है और है रसत्व या कहिये रस। इसी लिये करुण मे भी रसत्व की सिद्धि स्वीकार करनी पड़ती है।

प्राचीन भारतीय नाटकों में दुःखांत नाटकों का अभाव

काव्य हमारी कला का श्रेष्ठ भाग है और नाटक हमारे काव्य का सर्वोत्कृष्ट अग। हमारे यहा कवि को ब्रह्मा कहकर उससे यही आशा की गई थी कि वह अपने काव्य की सृष्टि से इस महान् सृष्टि का उपकार करता हुआ उसके स्रष्टा के महत्त्वगान मे सहयोग दे। इस रूप मे हमारी कला का उद्देश्य ईश्वरीय सत्ता की महत्ता बखानना ही था। हमारा वैदिक, औपनिषदिक और पौराणिक साहित्य इस कथन का साक्षी है कि हमारे साहित्य और हमारी कला का उद्देश्य आस्तिकता का प्रचार और प्रसार करना था। उसके विरुद्ध कुछ भी सह्य नहीं था। दुःखांत नाटक आस्तिकता-प्रचार के उद्देश्य में बाधक हो सकते थे। हमारे नाटक दुःखात्मक अवश्य रहे, नाटक की कथा के मध्य मे नायक और उसके साथियों को पूरे-पूरे कष्ट भोगने पड़े परंतु उनके कष्टों के तप

का फल भगवान् की ओर से शुभ और शुभ ही प्राप्त हुआ। दुःखी पात्रों को उनके शुभ कर्मों के फल-स्वरूप अंत मे सुख की प्राप्ति हो गई। इसका अर्थ था भगवान् न्यायशील है और उन्ही की कृपा से उन्हे सत्यमय कंटकाकीर्ण पथ मे चलने के पश्चात् सुख-प्राप्ति होती हैं। इस रूप मे हमारा साहित्य आस्तिकता का संरक्षण कर रहा था। आज भी देखिये रंगशाला मे तपस्वी हरिश्चंद्र की दुःखगाथा को देखकर लोग आनंदित होते है और ईश्वरीय न्याय की प्रशंसा करके ईश्वरीय सत्ता और महत्ता का प्रतिपादन और प्रचार करते है। और यदि हरिश्चंद्र की यह कथा कहीं दुःखात हो जाय; तब तो समझ लीजिये कि यदि सत्य और तपस्या के फल मे भी दुःख ही प्राप्त हुआ तो फिर ईश्वर रह ही कहां गया? बस यही एक प्रमुख कारण था कि हमारे नाटक दुःखात्मक भले ही रहे, परंतु उनके अंत मे सुख का ही समन्वय हो गया।

इसके अतिरिक्त एक लौकिक कारण और भी था। रंगशाला मे लोग मनोरंजन के लिये जाते हैं। दो-चार घंटे रंगशाला मे बैठे रहे और अंत मे वहा से लौटे मन पर दुःख की अनुभूति लेकर; तो फिर रंगशाला की तो आर्थिक स्थिति एकदम गिर जायेगी। यदि आज भी एक आदमी सिनेमा की किसी एक पिक्चर की बुराई कर देता है और उसके प्रभाव से दर्शको की संख्या कम हो जाती है तो निश्चय है कि इस प्रकार व्यावसायिक दृष्टि से बडी हानि पहुंचती है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि जनता की मनोभिरुचि को दृष्टि मे रखते हुए भी दुःखात नाटको की रचना नहीं होने पाती होगी। सारे संस्कृत-साहित्य मे ऊरुभंग जैसे अन्य दुःखांत नाटक एक-दो ही होगे; परंतु इन्हे दुःखात भी कहा जा सकेगा या नही यह विचारणीय बात है। ऊरुभंग मे नायक दुर्योधन की मृत्यु दिखाई जाती है; परंतु दुर्योधन जैसे अनाचारी

की मृत्यु से दुःख हुआ कितने प्राणियों को होगा। अन्याय के विनाश मे तो जनता को प्रसन्नता ही प्राप्त होती है; अतएव इस प्रकार के नाटक पूर्ण अर्थों मे दुःखात नाटक नहीं कहे जा सकते। इसी लिये हम कहते हैं कि भारतीय नाट्यकारों ने दुःखात नाटको की रचना ही नही की।

तीसरा प्रकरण

भारतीय नाटकों का आरंभ

हमारा विचार है कि भारतीय नाट्य-कला उतनी ही प्राचीन है जितनी प्राचीन यह सृष्टि। नाटक का मूल-बीज भारत मे तो उसी दिन से अंकुरित हो गया था जिस दिन सृष्टि का आरंभ हुआ। सृष्टि के निर्माता ने जिस दिन पृथिवी का रंग-मंच सजाकर सृष्टि-रचना का नाटक आरंभ किया होगा उसी दिन उसने अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा को ऋक्, यजुः, साम और अथर्व का ज्ञान प्रदान कर दिया होगा। हम वैदिको के मत्यानुसार वेद आदि-ग्रंथ है और वेद प्रभु का वह ज्ञान है जो उसने अपनी सृष्टि को सत्यासत्य-निर्णय के लिये सर्व-प्रथम प्रदान किया। वेद सर्व-विद्याओं के भाडार है—उनमे विश्वभर की कलाओ और विज्ञानो का मूल है। वेदों मे हमारे नाटक का मूल भी वर्तमान है।

नाट्य-रचना का प्रमुख मूलाधार संवाद है। ऋग्वेद मे सरमा और पणिस, यम और यमी तथा पुरूरवा और उर्वशी आदि के संवाद मिलते हैं। संवाद के अतिरिक्त नाट्य-रचना के मूल में दो वस्तुएं और भी

आवश्यक है—काव्यत्व और आख्यान। सो वेद स्वयं काव्य हैं और आख्यानो की झाकिया भी वहा वर्तमान है। इस रूप मे नाटक का बीज हमारे यहा सृष्टि के आरंभ-दिन से वर्तमान है।

भारतीय नाट्य-कला की अपेक्षा पाश्चात्य नाट्य-कला की प्राचीनता की स्थापना करनेवालो ने यहां यह संदेह उठाया है कि यह सब मूल सामग्री वर्तमान रहते भी भारतीयो ने उसका प्रयोग किया ही होगा, इसका प्रमाण क्या है; क्योकि वैदिक युग का कोई नाटक मिलता तो है ही नही। इसके उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि भारतीय विकासशील मस्तिष्क ने उस मूल सामग्री का प्रयोग अवश्य किया होगा, परंतु इन्हीं सभ्यताभिमानी फरहंगी जातियो की भाति एक और आततायी लुटेरी जाति ने भारतीय पश्चिमी-द्वारो से देश में घुसकर सर्वनाश का नाटक खेलते हुए हमारे साहित्य-भाडार के अमूल्य-ग्रंथों की होली जलाई थी। उदतपुरी का प्राचीन विश्वविद्यालय महाराज महीपाल के समय महोन्नति को प्राप्त था जिसमे अन्यान्य प्रकार के विद्यार्थियो के अतिरिक्त हीनयान संप्रदाय के १००० बौद्ध साधु, तथा महायान संप्रदाय के ५,००० बौद्ध भिक्षु शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। उसके विश्व-विख्यात पुस्तकालय को जिसमे ब्राह्मणो तथा बौद्धों के असंख्य महान् ग्रंथ भरे पडे थे, संवत् १२५६ मे बख्तियार खिलजी के सेनापति मुहम्मद बिनसीम ने जलाकर खाक कर दिया और साधुओ को तलवार के घाट उतार दिया। ऐसी अग्निया एक नहीं अनेक पुस्तकालयो को चाट गई। हमारा प्राचीन साहित्य-भाडार न जाने किन रत्नो से परिपूर्ण था, ठीक पता नही चलता पर इतना स्पष्ट है कि हमारे सस्कृत साहित्य मे जिन ग्रथो के नाम तो आते है, परंतु उनका पता कहीं नहीं मिलता, वे सब यवन लुटेरों की क्रोधाग्नि

में ही भस्म हुए होंगे। इस संकट-काल में विद्वानों ने वेदों, उपनिषदों और दर्शनों का रक्षण तो कंठस्थ करके कर लिया; परन्तु कंठस्थ करने की भी तो एक सीमा थी। इसी लिये हमारे दुर्भाग्य से हजारों उपयोगी ग्रंथों की रक्षा न हो सकी। भला जब १००० के लगभग वेदों की शाखाओं का लोप हो गया, धनुर्वेद, आयुर्वेद, शिल्प-शास्त्र, विज्ञान और इतिहासादि के सैकड़ों ग्रंथ लुप्त हो गये हों तो कोई अचरज नहीं कि हमारे नाट्य-साहित्य का महान् भांडार भी उसी में समाप्त हो गया हो। कुछ भी हो; भारतीय नाट्य-रचना की कहानी बहुत पुरानी और स्वतंत्र सत्ता रखनेवाली है।

भारतीय नाट्य-कला ने पश्चिम से कुछ लेकर उसी से विकास पाया है, ऐसा कहना कोरी बकवाद है। इस प्रकार के विचारों में भारतीय गुलामी को दृढ बनाये रखने की भावना के अतिरिक्त सत्यता का और तनिक भी अंश वर्तमान नहीं है; नाटक का मूलविकास अनुकरण की मनोवृत्ति का आधार ग्रहण करता है; यों कहिये, नाटक एक अनुकरण ही है। वह अनुकरण जिसे हम साधारण भाषा में नकल के नाम से पुकारते हैं। यदि हमने पश्चिमी देशों से, विशेषकर कल के उठे योरुप के देशों से कुछ लेना भी होता तो कोई अच्छी ही चीज लेते। नकल की नकल करने की भूल बुद्धिमान् भारत कदापि नहीं करता। जो योरुप सदा से प्रकृतिवादी रहा है उससे हमारा अध्यात्मवादी-भारत कुछ लेने का इच्छुक रहा होगा, ऐसा स्वप्न में भी नहीं सोचा जा सकता। हमारे नाटकों की सुखांतता इस बात की साक्षी है कि हमारे साहित्य के प्रत्येक अंग से सृष्टि के महान् कलाकार की कला का गुणानुवाद होता था। हमारे नाटकों की अंतरात्मा में भक्ति थी, उस भक्ति में अपनापन था। उसके आवरण में भी निजीपन था। आवरण से अभिप्राय यहां पर उस

रंगशाला मे है जिसमें बैठने के लिये भी प्रत्येक वर्ण का स्थान अलग-अलग नियत था ।

'यवनिका' शब्द को पकडकर कुछ भले लोगो ने कहना आरभ किया कि भारतीय रंगमंच पर यूनानी कला का भारी प्रभाव पड़ा, परंतु जब उन्हे बताया गया कि यवनिका मे यूनान का प्रतिबिंब देखने का कष्ट न कीजिये वस्तुत. यह शब्द 'जवनिका' है, तो उन्हे बड़ी निराशा हुई और इस प्रकार रंगमच तक से भी विदेशी प्रभाव की भ्रात धारणा का अपसरण हो गया ।

हा, एक मजा और देखिये , 'यवनिका' शब्द की दुहाई देनेवालो ने कहा कि "संभव है यूनानी विजयी जाति से विजित भारतीयों ने कला-विकास के लिये कुछ न कुछ उधार लिया हो, क्योंकि सदैव विजितो पर विजयी जाति का प्रभाव पड़ा ही करता है ।" परंतु यह कहते समय वे शायद यह भूल गये होंगे कि यूनानियो की उस क्षणिक विजय मे भारतीय आत्मा के प्रतीक उस पुरु का स्वाभिमान अभी नष्ट नहीं हो गया होगा जिसने सिकंदर के प्रश्न के उत्तर में कहा था कि—"मेरे साथ वही व्यवहार कीजिये जो एक राजा दूसरे के साथ करता है ।" और फिर जब उस यूनानी विजय के कुछ ही समय पीछे सिल्युकस की लज्जाभरी पराजय ने चंद्रगुप्त को यूनान का जमाई बना दिया हो तो बताओ क्या रंगमंच की यह यवनिका यूनान से दहेज में आई थी ? हा, जब तक वृद्ध चाणक्य जीवित था, तब तक भारतीय-आदर्श की अकड़ बनी हुई थी, उसमे पराया प्रभाव स्वीकार करने की तनिक भी गुजाइश नहीं थी । इन्हीं आधारों पर हम फिर दोहराते है कि भारतीय नाट्यकला का विकास स्वतंत्र सत्ता पर आश्रित है । भारतीय आध्यात्मिकता, स्वाधीनप्रियता और उसके आत्माभिमान ने किसी कला के विकास के

लिये भारतीयों को दूसरो के सम्मुख झोली पसारने की आज्ञा नहीं दी होगी। सैकडो वर्षों से पराधीन रहता रहा भारत अपने गौरव की साक्षी का एक भारी भाग विदेशी आततायियों की क्रोधाग्नि मे झोकता आया है; फिर भी आज तक उसके पास ऐसे अनेक प्रमाण प्रस्तुत है जिनको दिखाकर वह कह सकता है कि यह देखो, अभी तक मेरे पास यह मेरा सब अपना ही है। आज भी हमारे पास शेष बचे ऐसे अनेक ग्रंथ हैं जो या तो इतिहास के रूप मे हमारे प्राचीन नाटक ग्रंथो का पता देते हैं या स्वयं अपने को नाटक-साहित्य के रूप मे प्रस्तुत करते है। आगे हम इन्हीं ग्रंथो का उल्लेख करेंगे जिससे भारतीय नाटको के विकास की प्राचीनता और मौलिकता की साक्षी प्राप्त हो सकेगी।

आचार्य भरत का लिखा हुआ 'नाट्यशास्त्र' नाट्य-लक्षण-ग्रथो में सबसे पुराना प्राच्य-ग्रंथ है। इसमे नाट्य कला की उत्पत्ति के संबंध मे लिखा है कि त्रेता के आरंभ मे देवताओ ने ब्रह्मा के पास जाकर प्रार्थना की कि हमारे मनोरंजन के लिये कोई ऐसी वस्तु उत्पन्न कर दें कि जिससे देवता लोग अपने दुःख भूलकर आनंद प्राप्त कर लिया करें। कहते हैं ब्रह्मा ने प्रार्थना स्वीकार करके पाचवे वेद के रूप मे नाट्य-वेद की रचना कर दी। इसमे ऋग्वेद से संवाद, यजुर्वेद मे अभिनय-कला, सामवेद से गायन और अथर्ववेद से रस लिया गया। विश्वकर्मा ने रंगमंच की रचना की। शिव और पार्वती ने उसे ताडव और लास्य नृत्य प्रदान किये। विष्णु ने चार नाट्यशैलियां बतलाई और इस प्रकार नाट्यवेद का निर्माण हुआ। अपनी बुद्धि और श्रद्धा से कोई इसका चाहे कुछ भी अर्थ करे परंतु इतना स्पष्ट है कि नाट्य-कला की उत्पत्ति बहुत ही प्राचीन है—उतनी ही प्राचीन जितने कि वेद। और नाट्यकला का दर्जा उतना ही ऊंचा तथा पवित्र है जितना कि

वेद का । भरत मुनि का यह नाट्यशास्त्र कितना पुराना है इसका तो ठीक-ठीक पता नहीं; परंतु इतना निश्चय है कि यह ग्रंथ महात्मा बुद्ध से पर्याप्त समय पूर्व का है। और इस ग्रंथ से यह भी प्रतीत होता है कि इससे पूर्व अनेक नाटक-ग्रंथ बन चुके थे। नाटक-ग्रंथ ही नहीं अपितु अनेक लक्षणग्रंथ भी बनकर तैयार हो चुके थे। नाटकों के संबंध में जितना विशद विवेचन इस ग्रंथ मे मिलता है उससे स्पष्ट है कि इस ग्रंथ की रचना के समय भरत मुनि के सामने अनेक नाटक तथा लक्षणग्रंथ रहे होंगे। मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र के संबंध मे लिखा है—

"इस संपूर्ण संसार के भावो का अनुकीर्तन ही नाट्य है।" (१—७३)

"यह उत्तम, मध्यम और अधम मनुष्यो के कृत्यों का समुदाय है जो हितकारी उपदेशो का देने वाला तथा धैर्य, क्रीडा तथा सुखादि का उत्पन्न करनेवाला है।" (१—७९)

"दुःखित, असमर्थ, शोकार्त तथा तपस्वियो को भी समय पर शांति प्रदान करनेवाला यह नाट्य मैंने बनाया है।" (१—८०)

"यह नाट्यधर्म, यश, आयु की वृद्धि करनेवाला, लाभदायक, बुद्धिवर्द्धक तथा उपदेश देनेवाला होगा।" (१—८१)

"न कोई ऐसा वेद है, न शिल्प है; न विद्या है, न कला है; न कर्म है जो इस नाट्य में नहीं दिखाया जा सकता।" (१—८२)

"यह नाट्य वेद, विद्या इतिहास तथा अर्थ शास्त्र का स्मरण करानेवाला तथा संसार मे विनोद करनेवाला होगा।" (१—८६)

मुनि के इन दावों से स्पष्ट है कि हमारा नाटक हमारी आध्यात्मिकता

का एक अंग था और उसका उद्देश्य मानव-जीवन को उन्नत गति प्रदान करना था। मनोरंजन का अंश उसमें था तो सही, परंतु मनोरंजन उस काल के नाटकों का सर्वस्व नहीं था। 'हमारा अपना विचार है कि जब तक भारतीय राजनीति में ब्राह्मण की मानता रही तब तक नाटक का उद्देश्य धर्म-प्रचार और उपदेश रहा होगा और ज्योंही देश की सत्ता राजदर्बारों के हाथों में आनी आरंभ हुई होगी तभी से नाटकों में मनोरंजन का मसाला बढ़ना आरंभ हो गया होगा और धीरे-धीरे ये नाटक एक दिन विलास की सामग्री बन गये होंगे। कुछ भी हो, इतना स्पष्ट है कि भारतीय नाटक वैदिक काल की वस्तु है और उसके विकास में एकमात्र भारतीय आध्यात्मिकता का हाथ रहा है। और इस विलास के आरंभ में क्या मध्य में भी किसी विदेशी प्रभाव का कोई हाथ नहीं है।

संसार में नाटक-कला का विकास करनेवाले देशों में यूनान, रोम, मिस्र और चीन का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। परंतु भारत ने उनमें से किसी से क्या लिया होगा इसका निर्णय स्वयं ही कीजिये। यूनान की यवनिका की कल्पना तो केवल कल्पना है ही, साथ ही एक बात और भी है कि उनके नाटक प्रायः खुले मैदानों में होते थे जब कि हमारे नाटकों का स्थान रंगशालाओं में नियत था। साथ ही भारतीय और यूनानी नाटकों में वैसे भी आकाश-पाताल का अंतर है। फिर और देखिये, हमारे नाटक जहाँ धर्म और आध्यात्मिकता का आश्रय लेकर चलते थे वहा उनके यहा बेहयाई की हद बर्ती जाती थी। कहते हैं, उनके यहा पुरुष की जननेंद्रिय का चिह्न बनाकर उसका पूजन किया जाता था और उसकी प्रशंसा में हास्यगीत गाये जाते थे। आगे चल-कर इसी प्रथा का आधार लेकर यूनान के हास्य नाटकों की रचना

हुई। अब विचारिये, भला भारत को कुछ सीखने के लिये किसी को गुरु चुनना भी था तो क्या इस अश्लीलता-प्रचारक यूनान को ही ? हा, हो सकता है इस प्रभाव की सत्यता माननेवालों के देश इंग्लिस्तान ने शायद इससे कुछ सीखा हो तो सीखा हो; परंतु भारत को तो इस छिछोरेपन की ओर मुंह मोड़कर देखने की भी फुर्सत नहीं थी।

रोम से क्या लिया गया, अब इसे देखिये ! हम पढ़ते हैं कि रोम मे सबसे पहला नाटक ईसा से २४० वर्ष पूर्व किसी विजय के उपलक्ष्य में खेला गया था। खैर, मान लो इसी के पीछे कुछ उधार-पट्टा चला हो। परंतु असली बात तो हम पाते हैं कि रोम स्वयं अपने कलाकारो का मान नहीं कर सका तो इस कला का प्रचारक कैसे बन सकता ! रोम के नाटकों मे अभिनेतागण अधिकतर यूनान और दक्षिणी इटली के पास के हुआ करते थे और उनके नाट्य को भी केवल एक मनोरंजन की वस्तु के तौर पर प्रयोग किया जाया करता था। और इसके मुकाबले पर एक ओर थी भारतीय नाट्यकला जहा अभिनेताओ का एक गौरव था और उनके अभिनय को एक कला का दर्जा मिला था। और उनका यह रहा सहा रंग भी समाप्त हो गया ईसा की चौथी शताब्दी में ही। इस समय रोम के ईसाई पादरियों और धर्माचार्यों ने अभिनय-कला का बड़ा भारी विरोध करके उसे सर्वथा शक्तिहीन कर दिया। इस युग में रोम राज्य का सारे योरुप पर प्रभुत्व था। इसका फल यह हुआ कि योरुप भर की अभिनय कला को एक भारी धक्का लगा। अब सोचिये जहां आज से १५०० वर्ष पहले एक वस्तु स्वयं ही निर्बल हो जाती है उससे दुनिया का दूरस्थ देश कितना कुछ ग्रहण कर सकता होगा ?

मिस्र के नाटकों का विकास अलबत्ता बहुत पुराना है और इतना

पुराना कि यूनान ने भी उसका कुछ अनुकरण-भार लिया है; परंतु उसके ठीक-ठीक समय का पता नहीं लगता। हां, इतना स्पष्ट है कि मिस्र की सभ्यता से भारतीय सभ्यता बहुत पुरानी है इसलिये हमने लिया कुछ मिस्र से भी नहीं होगा।

चीन के नाटक भी बहुत पुराने हैं और उनका विकास भी स्वतंत्र आधार पर माना जाता है; परंतु यह स्पष्ट है कि भारतीय नाटकों से उनका भी कोई संबंध नहीं रहा। भारतीय नाटक जहां साधारणतया पांच-छः घंटे मे खेला जा सकता है, वहां चीन का नाटक आज भी बीस-तीस घंटे तक खेला जाता है। और साथ ही वहां पर मंच की भी आवश्यकता नहीं होती; खुले मैदानों में चीनी लोग अफीम की पीनक में झूमते हुए अपने-अपने पलंग बिछाये सोते-जागते अभिनय देखा करते हैं। निःसंदेह चीन अपने नाटकों का स्वयं मालिक है और उसके अपने हजारों नाटक हैं; परंतु खेद की बात है कि अभिनेताओं को मान चीन ने भी नहीं दिया।

भारत और चीन एशिया के वे दो देश हैं जिनमें स्वतन्त्रता से नाटकों का जन्म और विकास हुआ। इन दोनों देशों की नाट्य-कला का एशिया के अन्य देशों पर प्रभाव पड़ा। भारत की नाट्य-कला से ब्रह्मा, स्याम और मलय की नाट्य-कला को प्रभाव मिला और चीन से जापान में नाट्य-रचना पहुंची।

अमेरिका के पेरु और मेक्सिको आदि देशों मे नाटकों का जो स्वतंत्र विकास बतलाया जाता है उनमे भारतीय संस्कृत नाटकों की बहुत गहरी छाया है। बहुत संभव है किसी समय मे भारतीय आचार्यों ने अमेरिकनों को भी दीक्षा दी हो। हमारा तो विचार है कि वहां के रेड इंडियनों की मूल निवास-भूमि भारत ही रही होगी। अपने

आचार-व्यवहार की विभिन्नता के कारण वे अपने को अमेरिकनो में न मिला सके इसी लिये विभिन्नता बढ़ते-बढ़ते उनके विरोध का प्रमुख कारण बन गई है। अस्तु, भारत की नाट्य-कला अपना मोल रखती है। उसका अपना जन्म भी स्वतंत्र है और विकास भी स्वतंत्र ही। अब आगे हम उन ग्रंथो का उल्लेख करेंगे जो हमारे नाटकग्रंथों और अभिनय-कला का पता देते हैं।

प्राचीन साहित्य में हमारे नाटक और नाटककार

भारतीय नाट्यकलारंभ का संबंध हमारे उस अतीत से है जिसे सृष्टि का आदिकाल कहा गया है और इतिहास मे जिसे वैदिक काल का नाम दिया गया है। वेद मे उसका मूल वर्तमान है इसकी चर्चा हम पहले ही कर चुके है। यह भी हम बता आये हैं कि हमारे साहित्य-भाडार का अधिकाश यवनों के आक्रमणो मे नष्ट हो चुका था, फिर भी जो शेष वाङ्मय की साक्षिया प्राप्त है वे हमारी कला-प्राचीनता की सिद्धि मे सहायक होगी। महाभारत का समय देशी और विदेशी दोनों मतो से आज से लगभग ५ हजार वर्ष पुराना सिद्ध होता है। और रामायण-काल तो उससे भी पर्याप्त समय पहले का है। रामायण और महाभारत के अतर का वह समय सैकड़ों ही नहीं अपितु हजारो वर्ष की संख्या मे आता है।

रामायण में हमारी धार्मिकता और ऐतिहासिकता दोनो का मेल है। अपने इस ग्रंथ की साक्षी हमारे लिये बहुत भारी मोल रखती है। यद्यपि रामायण में किसी नाटक अथवा नाटककार का नाम तो नहीं आता परंतु इतना पता चलता है कि रामायण-काल मे

नाटक-अभिनेताओं के संघ बन चुके थे। अयोध्या का वर्णन करते समय उसी प्रसंग में बताया जाता है—

"वधूनाटक संघैश्च संयुक्ता सर्वतः पुरीम्।"

१४–५ बालकांड

अभिनेताओं के ये संघ यदि अभिनय का कार्य करते थे तो यह भी स्वयंसिद्ध है कि उस समय उनके लिये अच्छे नाटकों की रचना भी अवश्य होती होगी। इसी प्रकार वाल्मीकीय रामायण में अयोध्याकाड, सर्ग ६६ के श्लोक ४ मे उत्सवों पर "नट-नर्तकाः" के आनंद करने और नाटक खेलने का उल्लेख मिलता है :—

वादयंति तदा शांतिं लासयन्त्यापि चापरे।
नाटकान्यपरे स्माहुर्हास्यानि विविधानि च ॥

रामायण के पश्चात् हमारा दूसरा प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य-ग्रंथ है महाभारत। और हरिवंश पुराण को माना जाता है महाभारत का उपसंहार। इसी हरिवंश पुराण में रामायण से कथा लेकर नाटक खेलने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। रामजन्म और रंभाभिसार नाटक वज्रनाभ के नगर मे किस प्रकार और किस-किस के द्वारा खेले गये, इसका स्पष्ट वर्णन हरिवंश मे वर्तमान है।

आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र का उल्लेख तो हम पीछे कई जगह कर ही चुके हैं इस ग्रंथ की रचना भी ईसा से प्रायः हजार वर्ष पूर्व हुई होगी। और यह लक्षणग्रंथ है जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इससे पूर्व लक्षणग्रंथ पर्याप्त मात्रा में प्रस्तुत रहे होंगे। इतना ही

नहीं बल्कि उसके विवेचन से तो ऐसा ज्ञात होता है कि नाट्यशास्त्र से पहले भी कई लक्षणग्रंथ बन चुके होगे।

बौद्धो के प्रसिद्ध धर्म-ग्रंथ विनय-पिटक की रचना भी लगभग २५०० वर्ष पुरानी बात है। इस ग्रंथ से भी इस बात की साक्षी मिलती है कि उस काल में नाट्य-कला का अच्छा प्रचलन था। विनय-पिटक मे बताया गया है:—कीटागिरि की नाट्यशाला मे संघाटी फैलाकर नाचनेवाली नर्तकी के साथ मधुर संभाषण करनेवाले और नाटक देखनेवाले अश्वजित् तथा पुनर्वसु नाम के दो भिक्षुओं को प्रव्राजनीय दंड देकर विहार से निर्वासित कर दिया था।

चुल्लवग्ग

प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि का समय भी ईसा से ४०० वर्ष पूर्व का अर्थात् आज से लगभग २४०० वर्ष पहले का है। पाणिनि ने अपने व्याकरण के सूत्रो में कृशाश्व और शिलालिन नाम के दो नटसूत्रधारों के नाम बताये हैं। ये दोनो नाम निम्न सूत्रों से स्पष्ट हैं:—

'कर्मंद कृशाश्वादिनिः' तथा 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनट सूत्रयोः।'

भले ही नाटक के ये पात्र पाणिनि से प्राचीन हो या उसके समकालीन, परंतु अब से २४०० वर्ष पुराने तो अवश्य है।

जैन कल्पसूत्रो में भद्रबाहु स्वामी ने जड़वृत्ति साधुओ के संबंध में एक साधु का उल्लेख किया है जो नटों का नाटक देखने जाया करता था। एक बार जब वह नाटक देखने गया था तब उसके गुरु ने मना कर दिया था कि नटों का नाटक देखने न जाया कर। वह एक दिन फिर नाटक देखने गया। गुरु ने इस पर उसे डाटा तो उसने उत्तर दिया:—

आपने तो नटों का नाटक देखने को मना किया था और मै गया था नटियों का नाटक देखने। इन जैन कल्पसूत्रों की रचना भी ईसा से लगभग ३०० वर्ष पुरानी अर्थात् आज से लगभग साढ़े बाईस सौ वर्ष पुरानी बात है और यह सिद्ध करती है कि उस समय देश की रंगशालाओं में केवल पुरुष ही नहीं अपितु स्त्रिया भी कार्य करती थीं।

इसी प्रकार आज से लगभग २१०० वर्ष पूर्व होनेवाले महाभाष्य-कार पतंजलि ने अपने महाभाष्य में 'कंस-वध' और 'बलिबंध' की घटनाओं का उल्लेख किया है।

भारतीय रंगमंच का उल्लेख करते हुए पीछे हम बतला ही आये हैं कि सरगुजा रियासत की रामगढ पहाड़ी मे जो दो गुफाएं हैं उनमे से एक मे प्रेक्षागार भी है। दूसरी गुफा मे एक लेख है जिससे पता चलता है कि यह गुफा सुतनुका नाम की किसी देवदासी ने नटो के विश्राम के लिये बनवाई थी। यह गुफा ईसा से ३२० वर्ष पुरानी कही जाती है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि लगभग २३०० वर्ष पूर्व तो हमारे यहा अच्छे - अच्छे प्रेक्षागार भी तैयार हो चुके थे।

उपर्युक्त साक्षियो से यह सिद्ध हो गया है कि भारतीय नाट्य-कला अत्यत प्राचीन है और वैदिक, रामायण, महाभारत तथा बौद्ध कालों मे नाटकों का भारत मे पर्याप्त प्रचलन था तथा बौद्धकालीन भारत में अभिनय के लिये रंगशालायें भी बनती थीं।

इससे आगे हमारे नाट्य-साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास बहुत स्पष्टता से मिल जाता है।

संस्कृत के नाटक और नाटककार

महाकवि कालिदास का समय ईसा से लगभग आधी शताब्दी पुराना है और उनका लिखा अभिज्ञानशाकुंतल विश्वविश्रुत नाटक है। इसके अतिरिक्त विक्रमोर्वशीय तथा मालविकाग्निमित्र भी उनके प्रसिद्ध नाटक है। कालिदास की नाट्य-कला के संबंध मे हम यहा कुछ नहीं कहेगे; उसके संबंध मे उनके शाकुंतल का उल्लेख करते हुए कुछ बतायंगे। यहा तो हमे एक बात यह बतलानी है कि कालिदास ने अपने आप को नवीन काव्यकार कहकर अपने पूर्ववर्ती **भास, कविपुत्र, सौमिल्ल,** आदि नाटककारो की स्तुति की है। इससे सिद्ध है कि कालिदास संस्कृत के सर्वप्रथम ज्ञात नाटककार नही हैं।

भास का अधिक परिचय ज्ञात नहीं। हा, उनके रचे पचरात्र, स्वप्नवासवदत्ता, चारुदत्त, प्रतिमा, अभिषेक आदि तेरह नाटक गणपति शास्त्री को खोज मे मिले हैं और इन नाटको का शास्त्री जी के संपादकत्व मे सन् १९१२–१५ ई० मे प्रकाशन भी हो चुका है। इनमे से पंचरात्र, स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिमा और अभिषेक के तो हिंदी अनुवाद भी हो चुके है। स्वप्नवासवदत्ता के प्रसंग मे हम पुस्तक के अन्त मे भास की कला को परखने का प्रयत्न करेंगे।

कालिदास ने भास के साथ नाटककारो में **कविपुत्र** और **सौमिल्ल** का नाम लिया है; परंतु खेद की बात है कि इनमे से अभी तक किसी का न तो कुछ वृत्त ही मिलता है न रचना का परिचय।

अश्वघोष का समय ईसा की प्रथम शताब्दी का उत्तरार्द्ध ठहरता है। ये वही अश्वघोष है जिन्होंने बुद्ध-चरित और सौदरानंद आदि काव्यों की रचना की है। इनके लिखे एक नाटक शारद्वतीपुत्र-प्रकरण

या शारीपुत्र-प्रकरण का कुछ अंश अन्य दो नाटको के अंशो के साथ तालपत्र पर लिखा हुआ तुर्फान मे मिला है। ये बौद्ध थे और इसी लिये उनकी रचना में बौद्धधर्म-प्रचार की बुद्धि रमी रही है।

शूद्रक का नाम भी नाटककार की दृष्टि से अच्छे पाये का है। उनके ठीक समय का तो कुछ पता नहीं; परंतु इतना स्पष्ट है कि वे भास के परवर्ती थे। कहते हैं शूद्रक आंध्र देश के शासक थे। इनका लिखा मृच्छकटिक नाम का दस अंकों का नाटक है।

विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस का नाम भी हमारे नाट्य-साहित्य मे बहुत सम्मान का है। यह नाटक शुद्ध राजनीतिक प्रभाव से खड़ा हुआ है। इसमे चाणक्य का कूटनीति को रूपक का सुंदर रूप दिया गया है। विशाखकथित एक और नाटक का नाम भी प्रसिद्ध है। इसका नाम है देवीचंद्रगुप्तम्, परंतु यह अभी पूरा मिला नही। इसकी कथा मे भी राजनीतिक षड्यंत्र का आधार लिया गया है। विशाखदत्त के पिता का नाम महाराज पृथु और पितामह का नाम वटेश्वरदत्त था। इनके समय का अनुमान ईसा की चौथी शताब्दी के लगभग है।

इनके पश्चात् ईसा की छठी शताब्दी मे तीन प्रसिद्ध नाटककारो ने भारतीय वाङ्मय को अपनी अमर कृतियो से अलंकृत किया। ये थे **भवभूति, महेंद्रविक्रम और श्रीहर्ष**। **भवभूति** का वास्तविक नाम श्रीकंठ था। पिता का नाम नीलकंठ था और माता का जातुकर्णी। भवभूति पद्मपुर के रहने वाले थे। ये वेद-शास्त्र तथा काव्य-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। इनके लिखे तीन नाटक प्रसिद्ध है:—उत्तर-राम-चरित, महावीर-चरित तथा मालतीमाधव। इनमें से, उनकी ख्याति का प्रमुख आधार उत्तर-राम-चरित रहा है। विवेचकों का कथन है कि:—

नाट्य-कला तथा अभिनय की दृष्टि से भवभूति उतने सफल नहीं रहे जितने काव्य-कौशल की दृष्टि से। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि संस्कृत-नाटककारो में कालिदास की टक्कर का कलाकार भवभूति के अतिरिक्त और कोई नही है। कालिदास यदि शृंगार के कवि थे तो भवभूति करुणा के चतुर चितेरे। उनके सबंध मे यहां अधिक कहने का अवसर नही इसलिये उनके उत्तर-राम-चरित के संबंध मे पुस्तक के अंत मे विचार करेंगे।

महेंद्रविक्रम और **श्रीहर्ष** दोनों समकालीन राजा थे। **महेंद्र-विक्रम** का रचा हुआ केवल मतविलास नाम का एक प्रहसन मिलता है। यह नाटक संस्कृत के प्राप्य नाटको मे प्राचीनतम प्रहसन है। इसका हास्य अश्लीलतारहित और सर्वथा पवित्र रहा है। महेंद्र महाराज पल्लवनरेशसिंह विष्णुवर्मा के सुपुत्र थे और कांची इनकी राजधानी थी।

श्रीहर्ष थानेश्वर तथा कन्नौज के शासक थे। ये वही हर्ष हैं जिनके आश्रय में रहकर सुप्रसिद्ध कवि बाणभट्ट ने हर्षचरित लिखा था। इन्हीं के दर्बार मे चीनी यात्री ह्वानसाग भी कुछ वर्षो तक रहता रहा था। हर्षरचित जो नाटक मिलते है उनके नाम ये है—रत्नावली, प्रियादर्शिका तथा नागानंद। इन नाटकों की रचना मे हर्ष को अच्छी सफलता मिली है और इस सफलता का मूल रहस्य है उनका काव्यकौशल।

इन प्रसिद्ध प्राचीन नाटककारों के अतिरिक्त और भी अनेक सस्कृत नाटककार हुए जिन्होंने नाट्य-रचना की क्रमबद्धता को अक्षुण्ण रखा। इनमें से प्रसिद्ध नाम ये है—**भट्ट नारायण, मुरारि, राजशेखर, कृष्ण-मिश्र और आर्य क्षेमीश्वर।**

भट्ट नारायण ने वेणी-संहार की रचना की। इनका समय ईसा की सातवीं शताब्दी में अनुमान किया जाता है। **मुरारि** का समय नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मानना चाहिये। उनका केवल एक नाटक अनर्घराघव मिलता है वैसे उन्होंने और भी कई नाटकों की रचना की है। **राजशेखर** नवीं ईस्वी शती के उत्तरार्द्ध में हुए। इनके लिखे चार नाटक हैं— कर्पूरमंजरी, बालरामायण, बालभारत और विद्धशालभंजिका। कर्पूरमंजरी की संपूर्ण रचना प्राकृत-भाषा में हुई है। **कृष्ण मिश्र** भी राजशेखर के समकालीन नाटककार थे। इनका लिखा प्रबोध-चंद्रोदय नाटक बहुत प्रसिद्ध हुआ। यह भावात्मक नाटक है और अपने समय के अच्छे नाटकों में से एक है। इसका महत्त्व इसी से परखा जा सकता है कि हिंदी में इसके कई अनुवाद हुए। **आर्य क्षेमीश्वर** भी राजशेखर के समकालीन थे। इनका लिखा चंडकौशिक नाटक बहुत प्रसिद्ध रहा। यह वही चंडकौशिक है जिसके आधार पर भारतेंदु का सत्यहरिश्चंद्र रचा हुआ बताया जाता है। इनका दूसरा नाटक नैषधानंद है जो नलोपाख्यान के आधार पर लिखा गया है।

महाराज हर्षवर्द्धन के पश्चात् देश की अक्षुण्णता को एक भारी धक्का लगा। वर्द्धन शासन का अंत होते ही देश पर विदेशी लुटेरों के आक्रमण आरंभ हो गये। इससे भारतीय वाङ्मय की कड़ियां कडकने लगीं। मुलतान, सिंध, दिल्ली और द्वारिका तक होनेवाले आक्रमणों ने देश की संस्कृति और सभ्यता को एक भारी चोट लगाई। यह चोट खाकर देश शताब्दियों तक उठ ही नहीं सका। देश में एक प्रकार की अव्यवस्था सी व्याप गई। देश में उठनेवाले गण राज्यों ने स्थिति को और भी बिगाड़ दिया। फलतः यह अव्यवस्था उस समय

तक बराबर चलती रही जिस समय तक मुहम्मद गोरी द्वारा संस्थापित गुलाम-वंशी शासन ने हमें गुलाम बनाकर शासित नहीं कर लिया। इस राजनैतिक हेर-फेर में देश की भाषा ने भी चोला बदल दिया।

भारत की विश्वविश्रुत वह संस्कृत जो देश को आदिप्रकृति के रूप में प्राप्त हुई थी प्राकृत, अपभ्रंश और देशभाषा के रूपों में बदलती-बदलती इस समय तक हिंदी नाम धारण कर चुकी थी। इस बीच में नाट्य रचना हुई तो सही, परंतु इस समय कोई कालिदास या भवभूति उत्पन्न नहीं हो सका। छोटेमोटे नाटककार हुए, जिनकी कला में वही पुराना उधार चलता रहा इसलिये हमारे नाटक के इतिहास में वे कोई विशेष महत्त्व-प्राप्त नहीं कर सके।

यहां से आगे देश की जनता के बहुत बड़े भाग पर हिंदी भाषा का प्रभुत्व प्रारंभ हो गया। हिंदी में ही हमारे साहित्य का निर्माण होने लगा। हिंदी में जो नाटकों का क्रम चला, उसे हम आगे प्रस्तुत करके उसका विकास स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

चौथा प्रकरण

हिंदी नाटकों का क्रमिक विकास

हिंदी नाटकों का आरंभ

नाटको का अभिनय जनता के मनोरंजन की वस्तु है। और मनोरंजन सूझता है चैन, आराम के जीवन मे तथा शाति के वातावरण मे। मुस्लिम लुटेरो के आक्रमण ने देश के जीवन को, उसकी अवस्था-व्यवस्था को अशात बना डाला। हिंदुओ की आखो के आगे उनके मदिर टूटने लगे, उनकी पूज्य मूर्तिया टूटने लगी, शिखा और सूत्र भी सुरक्षित नहीं रह गये। आर्थिक और सामाजिक परतंत्रता के साथ-साथ देशवासियो का धार्मिक जीवन भी संकट मे पड़ गया। ऐसी अवस्था मे देश को अभिनय करके रंगरलिया मनाने का अधिकार ही क्या हो सकता था। नाटक-रचना का अभिनय के साथ बहुत गहरा संबंध है। इस अभिनय की बाधा ने नाटक रचना को बहुत भारी धक्का पहुंचाया। विक्रम की दसवी शताब्दी से १९ वीं शताब्दी तक हमारा शायद ही ऐसा कोई नाटक निकला हो जिसमे हम अपनी भाषा और संस्कृति का प्रतिनिधित्व पा सके।

निःसंदेह हिंदी मे नाटक नाम की रचनाएं तो १५ वीं शताब्दी मे ही मिल जाती हैं; परंतु इन नाटको का साहित्यिक मोल कुछ भी नहीं। वस्तुतः नाटक है गद्य और पद्य के मिश्रित रूप का नाम। साहित्यकारों ने चंपू नाम भी उसे इसी लिये तो दिया है। हिंदी साहित्य में जब तक केवल कविता का बोलबाला रहा तब तक उसमे सफल नाटक रचना संभव ही नहीं थी। ज्यों-ज्यों गद्य का विकास होता गया त्यों-त्यो नाटक मे भी बल आता गया।

गद्य के अंग-प्रत्यंग विक्रम की १६वीं शती के मध्य तक पुष्ट हो चुके थे। भाषा को केवल एक कलात्मक रूप देना शेष रह गया था। यह काम भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने सपन्न किया। भारतेंदु के जैसे निखरे हुए गद्य का रूप तो उनके पूर्ववर्ती, पंजाब के रामप्रसाद निरंजनी जैसे और भी अनेक गद्यकारों मे आ चुका था पर वहा वह प्रचारित नहीं था। भारतेंदु की सर्वप्रियता ने विरोधियो के लिये गुंजाइश बहुत कम कर दी थी इसी लिये गद्य-निर्माता होने का महत्त्व उन्हीं को दिया गया। भाषा की दृष्टि से भारतेंदु को मौलिक नाटककार माना गया है, परंतु ऐसा मानना अनुचित ही नही अपितु भारतेंदु के प्रति अन्याय भी होगा। भारतेंदु ने नाटक-संबंधी अपने एक लेख मे लिखा है,—"हिंदी मे मौलिक नाटक उनके पहले दो ही लिखे गये थे—महाराज विश्वनाथ सिंह का 'आनंद रघुनंदन-नाटक' और बाबू गोपालचंद्र का 'नहुष नाटक'।" इसलिये नवीन नाटको की परंपरा का श्रीगणेश महाराज विश्वनाथ सिंह से ही मानना चाहिये। हा, इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते है कि ये दोनों नाटक ब्रजभाषा मे थे। लेकिन ब्रजभाषा और खड़ी बोली का प्रश्न न उठाकर, हम नाटकों की मौलिकता पर ध्यान रखते हुए वर्तमान

नाटकों की परंपरा का आरंभ इन्हीं नाटककारों से स्वीकार करेंगे। इस परंपरा के भीतर भारतेंदु का महत्त्व बड़े मार्के का है। भारतेंदु के नाटक रंगमंच की दृष्टि से बड़े महत्त्व के थे; परंतु कला और संस्कृति के जमाव के प्रश्न का हल हुआ प्रसाद-काल के नाटकों-द्वारा। प्रसाद काल के नाटकों में नाटककारों का व्यक्तित्व झाँकता दिखाई देगा। यही-इस काल की विशेषताओं में से एक प्रमुख बात है। इस प्रसाद-काल के प्रभाव की परंपरा आज के नाटक भी बहुंश में कह रहे हैं इसलिये आज तक के नाटकों पर इसी परंपरा का अधिकार मानना चाहिये।

इस प्रकार हिंदी नाटक-रचना तीन कालमों में विभाजित हो जाती है :—

१—**आरंभ काल**—(सं० १४५० से लेकर सं० १८५० तक की नाटक-रचना)

२—**मध्य काल**—(सं० १८५० से लेकर सं० १९५० तक की नाटक-रचना)

३—**वर्तमान काल**—(सं० १९५० से लेकर सं० २००० तक की नाटक-रचना)

आगे इन्हें कुछ व्याख्या के साथ समझाने का प्रयत्न करेंगे।

१—आरंभ काल

संवत् १८५० तक की नाटक-रचना

हमारे हिंदी-साहित्य का आरंभ विक्रम की ११ वीं शती के आदि से माना जाता है। तभी से लेकर संवत् १८५० तक हमारे साहित्य में

जो भी नाटक प्रस्तुत हुए उनसे यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि इन नाटकों के रचयिताओं के सामने नाट्य-कला को उन्नत करने का भी कोई उद्देश्य वर्तमान था। बस यदा-कदा ये नाटक लिखे जाते रहे। क्यों लिखे गये? इस उद्देश्य का ध्यान तो शायद कभी लिखनेवालों को भी नहीं आया होगा। यदि उद्देश्य उनके सामने होता और उस उद्देश्य का उन्हे ध्यान होता तो यह भी अवश्य संभव था कि उस उद्देश्य के पूर्तिस्वरूप ये नाटक किसी परपरा मे चलते और इनकी अक्षुण्ण धारा मे कहीं भी बाधा न पडती। परंतु हम देखते है कि इन आठ सौ वर्षों के भीतर आठ भी नाटक ढंगसिर के तैयार नहीं हो सके। इस बीच के प्रमुख नाटककार **मैथिलकोकिल विद्यापति ठाकुर, कविवर बनारसीदास जैन, प्राणचंद चौहान, हृदयराम, देव कवि, महाराज यशवंत सिह, नेवाज कवि तथा हरिराम हैं।** इनमे भी कई नाटककार केवल अनुवादक मात्र ही रहे। मौलिक रचना करनेवाले भी केवल कथोपकथन ही प्रस्तुत करते प्रतीत होते है। आगे इनका कुछ परिचय देखिये :—

आरंभ काल के नाटककार

मैथिलकोकिल विद्यापति ठाकुर

ठाकुर मगध के रहनेवाले थे। सवत् १४६० मे इनका तिरहुत-नरेश शिवसिंह के यहा वर्तमान रहना प्रसिद्ध है। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। अपनी पदमाधुरी के कारण ये मैथिलकोकिल कहे जाते है। शैव होते हुए भी उन्होंने अपने मधुर काव्य के लिये राधा-कृष्ण को चुना। उनकी रचना मे कीर्तिलता और कीर्तिपताका से तो

सभी परिचित हैं; परंतु उनके नाटककार होने का ज्ञान प्रायः कम ही लोगों को है। पर स्मरण रखने की बात है कि विद्यापति जिस प्रकार राधा-कृष्ण के प्रथम गायक हैं उसी प्रकार वे नाटककारों मे सबसे पहले नाटककार भी हैं।

ठाकुररचित दो नाटक हैं १—पारिजात-हरण, २—रुक्मिणी-परिणय। उनके दिखाये पथ पर बिहार मे पीछे से और भी अनेक नाटक लिखे गये जिनमें से लाल झा का गौरी-परिणय, भानुनाथ का प्रभावती-हरण और हर्षनाथ झा का उषाहरण विशेष उल्लेख-योग्य हैं।

इन बिहारी नाटकों को हिंदी नाटको का पूर्वरूप मानना चाहिये। जहां पर संस्कृत नाटको का अंत होता है वहा पर ही ये नाटक संस्कृत, बिहारी और हिंदी की पावन त्रिधारा लेकर प्रस्तुत होते हैं। साथ ही एक बात ध्यान देने योग्य यह भी है कि ये नाटक अपना मौलिक अस्तित्व लेकर उठे थे। पर हा उनमे शृंगार का प्रभुत्व था।

कविवर बनारसीदास जैन

ये जौनपुर के रहनेवाले एक जौहरी थे जो आमेर मे भी रहा करते थे। इनके पिता का नाम खडगसेन था। ये संवत् १६४३ मे उत्पन्न हुए और संवत् १६६८ तक रचना करते रहे। इन्होंने अर्द्धकथानक नाम से अपना जीवनचरित्र लिखा था। यह हमारे साहित्य मे सबसे पहला जीवनचरित्र है। इन्होंने सं० १६९३ में **'समयसार'** नाम का एक नाटक लिखा था जो कि प्रसिद्ध जैन कवि कुंदकुंदाचार्य के नाटक का भाषांतर है। यह नाटक तो नाममात्र का है; वस्तुतः यह पद्यमय-नीति-कथन है।

प्राणचंद चौहान

प्राणचंद का समय संवत् १६६७ के लगभग है। विशेष परिचय तो इनका कुछ ज्ञात नहीं। इनका लिखा 'रामायण महानाटक' नामक नाटकग्रंथ प्रसिद्ध है। केवल कथोपकथन के आधार के सिवा नाटक का अन्य कोई लक्षण इसमें भी वर्तमान नहीं।

हृदयराम

हृदयराम पंजाबी थे। इनके पिता का नाम कृष्णदास था। इन्होंने संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' के आधार पर हिंदी में हनुमन्नाटक की रचना की। इसकी कविता बड़ी सरस और परिमार्जित है रचना-काल इनका संवत् १६८० के लगभग है।

देवकवि

ये वही प्रसिद्ध नवरत्नों मे गिने जानेवाले महाकवि देव हैं अथवा अन्य कोई और, इस संबंध मे मतभेद है। पर इनके नाम से एक नाटक अवश्य मिलता है। नाटक का नाम है 'देवमाया प्रपंच नाटक'। यह नाटक प्रबोधचंद्रोदय के ढंग पर भावात्मक रहा है। इसका निर्माण-काल विक्रम की १७ वीं शताब्दी का मध्यकाल है।

महाराज यशवंत सिंह

ये जोधपुर के शासक थे और संवत् १६८३ में उत्पन्न हुए थे

इन्होंने कृष्णमिश्र-कृत संस्कृत नाटक प्रबोधचंद्रोदय का सवत् १७०० के लगभग सरस अनुवाद किया।

प्रबोधचंद्रोदय एक भावात्मक नाटक है। श्रद्धा, विवेक भक्ति और मोह, क्रोधादि को पात्र मानकर इसकी रचना हुई है। इसके कई अनुवाद हुए हैं परंतु सबसे प्राचीन अनुवाद इन्हीं का है। अनुवाद गद्य-पद्यमिश्रित भाषा मे हुआ है। कविता तो बहुत अच्छी बन पडी है परंतु ब्रजभाषा गद्य मे कुछ अधिक आकर्षण प्रतीत नही होता।

प्रबोधचंद्रोदय के और भी कई अनुवाद हुए जिनमे से एक तो सं० १७२६ मे दोहो में अनाथदास ने किया। एक और अनुवाद हुआ **सुरतिमिश्र** आगरानिवासी के द्वारा। इनका रचना-काल १७६० से १८०० तक मानना चाहिये। यह अनुवाद दोहा तथा ककुभा छंद मे हुआ है। गद्य इसमें नाममात्र को भी नहीं है। इस लिये वह रचना नाटक न होकर कविता-रचनामात्र रह गई है। इसी प्रकार एक और अनुवाद वृंदाबन बासी प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त **ब्रजबासीदास** का भी है। यह रचना भी प्रायः दोहो मे हुई है। रचना-काल संवत् १८१६ के लगभग है। इसी प्रकार एक अनुवाद संवत् १८४० मे काशी-वासी **आनंद** ने नाटकानंद नाम से दोहा-चौपाई मे किया। इन अनुवादों के अतिरिक्त और भी कई अनुवाद निकले पर उनका विशेष नाम नहीं।

आधुनिक युग में भी अनुवादरूप मे तो नहीं; परतु उसी परिपाटी पर कई अच्छे नाटक लिखे गये जिनमे बाबू जयशंकर प्रसाद की 'कामना' और सुमित्रानंदन पंत की 'ज्योत्सना' का अच्छा स्थान है। भारतेदु बाबू की 'भारत-दुर्दशा' मे भी इसकी झलक मानी जा सकती है। और यदि केशव की 'विज्ञानगीता' को नाटक माना जाये तो उस पर भी प्रबोध-

चंद्रोदय का प्रभाव मानना पड़ेगा और देव के देवमायाप्रपंच पर भी उसी की छाया स्वीकार करनी पड़ेगी।

वस्तुतः प्रबोधचंद्रोदय एक सुंदर-सफल कल्पना है, जिसका आधार ग्रहण करके कई अच्छे कलाकारों ने भाषा को वे नाटक प्रदान किये जिनमें मौलिकता का महत्त्व भी सरलता से सुरक्षित रह सका।

नेवाज

नेवाज अंतर्वेद के निवासी थे। शाहजादा आजमशाह के आश्रय में रहते हुए इन्होने संवत् १७३७ मे शकुंतला नाटक का आख्यान ब्रजभाषा पद्य मे लिखा। रचना नाटक कही जाने पर भी कविता-पुस्तक ही बन गई है।

हरिराम

इनका संबंध प्रसिद्ध गद्य-लेखक लल्लूजी 'लाल' के वंश से बताया जाता है। समय अनुमानतः विक्रमकी १६ वीं शताब्दी का मध्य समझना चाहिये। इनका लिखा जानकी-रामचरित नाटक है। इसमे सीता-स्वयंवर तथा रामचंद्रजी के विवाह का वर्णन है। इसका प्रायः भाग पद्य मे है। पद्य मे खड़ी बोली का पुट है और गद्य उस समय के अनुसार अच्छी खड़ी बोली मे रहा है।

× × ×

ये हमारे विभाजन के प्रथम वर्ग के नाटक है जिनमें किसी भी प्रकार की एकरूपता अथवा साहित्यिक उद्देश्य-भावना का प्रभाव नहीं

दिखाई पड सकेगा। इनकी न कोई एक विचारधारा है, न भाषा और भावों की एकरूपता। और यदि ध्यान से देखा जाये तो शायद एकाध को छोड़ कर, हम नाटककार भी शायद किसी को न मानें। हा, इससे आगे चल कर दूसरे वर्ग मे नाटकों का एक उद्देश्य और भावना का रूप स्पष्ट लक्षित होगा और साथ ही नाट्य-रचना का एक क्रमबद्ध स्वरूप भी दिखाई पड़ेगा। आगे हम इसी वर्ग के नाटकों तथा नाटककारो का उल्लेख करेंगे।

(२) मध्यकाल

संवत् १८५० से लेकर संवत् १९५० तक की नाटक-रचना

इस काल के नाटकों मे प्रायः एक बात देखने मे आती है कि जहा वे प्राचीन नियमों के भार वहन करते चलते हैं वहा उनमे एक नवीन चेतना का प्रादुर्भाव भी होता चलता है। आरंभ के नाटकों से ज्यो–ज्यो आगे चलते जायंगे त्यों–त्यों यह प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता चलेगा। संवत् १८१४ मे पलासी की पराजय ने अंग्रेजी-सभ्यता को—नहीं-नहीं उसके अन्याय और अनाचार को भारत में मनचाही दौड़ लगाने का अवसर दिया था। पलासी के पश्चात् बकसर की बारी आई और साथ ही इलाहाबाद की सधि हो गई। यह घटना लगभग संवत् १८२२ की है। अंगरेजी तिथि के अनुसार इसे हम सन् १७६५ की १६ अगस्त कह सकते है। इसी दिन क्लाइव ने देहली के निर्बल शासक शाहआलम से चादी के कुछ लाख टुकड़े वार्षिक के बदले देश के विस्तृत पूर्वी भाग मे मनमानी लूट-खसोट करने का—देश की नैतिक शक्ति को नष्ट-भ्रष्ट करने का—पूरा और पक्का पट्टा ले लिया था। संवत् १८३२ मे निर्दोष नंदकुमार

को फांसी के तख्ते पर चढ़ा दिया गया और संवत् १८३५ मे चेत-सिंह को पकड़ने के बहाने भारतीय संस्कृति के हृदय बनारस पर चोट कर दी गई। देश की भयभीत जनता ने इसी वर्ष अवध की बेगमो पर होनेवाले अमानुषिक अत्याचारों को देखा और आसू बहाते,सिसकियां भरते देखा। यद्यपि इन अनाचारो की प्रतिक्रियाएं हुई; परंतु सदियो से गुलामी मे फसे देश की आवाज मे कुछ अधिक बल नही रह गया था। मुस्लिम जनता एक प्रकार से शासन के पुर्जों के रूप मे ढल चुकी थी इसलिये वह विलासिता के कारण मृतप्राय ही हो गई थी। वस्तुतः यह हमारी गुलामी का ओवरहाल होने जा रहा था। एक गुलामी के बदले हम दूसरी गुलामी के सिपुर्द होने लग रहे थे। यदि ऐसी स्थिति किसी स्वतन्त्रता के वातावरण मे उत्पन्न हो गई होती तो शायद साहित्य की सारी ही गति-विधि उलट गई होती। खैर, वह तीव्र उलट-फेर तो हमारे साहित्य मे संभव नहीं हो सका; परंतु इतना अवश्य समझें कि हमारे साहित्य की चेतना ने एक करवट बदली और अपनी निरर्थकता तथा अपनी अनुपयोगिता पर एक दृष्टि डाली। इस राजनीतिक हेरा-फेरी ने हमारी रीति-वर्णना को मानों अवकाश देकर विदा कर दिया। शृंगारिकता का एकछत्र-साम्राज्य, जो लगभग २०० वर्षों से सिंहासनासीन चला आ रहा था, यहा आकर हिल गया। और अधिक क्या कहे, इस शृंगार का मूलाधार कविता का एकाधिपत्य भी छिन गया। ८०० वर्षों से चली आ रही कविता की शक्ति निरर्थक सिद्ध कर दी गई और साहित्य का क्षेत्र गद्य के लिये खाली किया जाने लगा। इसका प्रभाव हमारे नाटकों पर विशेष रूप से पडा। अब तक के हिंदी-नाटक प्रायः पद्यात्मक रचना-मात्र थे, परंतु यहा से वे केवल पद्य-मात्र की वस्तु न रहकर गद्य-

प्रधान रहने लगे। पहले-पहले इन नाटकों मे गद्य के साथ जितना पद्य चलता रहा आगे-आगे उसकी मात्रा भी घटती गई और उसकी स्थिति केवल भोजन में नमक के समान ही रह गई। बस, यह तो हमारे इस काल के नाटकों की कलेवर-रचना की कहानी है, अब उसकी आंतरिक वस्तुस्थिति के संबंध मे समझिये इस प्रकार :—

प्रथम काल के नाटक किसी विशेष उद्देश्य की परंपरा लेकर नहीं चल सके। सभी का अपना-अपना पथ था। पहले तो वहा मौलिक नाटक बने ही नही; और जो थे भी उनमे अधिकतर या तो शृंगार-वर्णना थी या धर्म-भावना की प्रेरणा। परंतु इस युग के नाटकों का विकास एक नयी आत्मा लेकर हुआ। इस युग मे सर्वप्रथम दो नाटककार हिंदी के आदि मौलिक नाटककार माने गये हैं **महाराज रघुराजसिंह** और बाबू **गोपालचंद्र "गिरधर"**। इनके पश्चात् समर्थ नाटककार भारतेंदु अपने दल-बल सहित प्रविष्ट होते हैं। भारतेंदु ने लगभग १ दर्जन नाटक रचे। उनके नाटकों में नाटक की आत्मा भी बदली हुई मिलेगी। यहा नाटक सोद्देश्य थे। केवल मनबहलाव अथवा प्रभु-रिझावन ही इस युग के नाटकों का उद्देश्य नहीं रह गया था।

इस समय हमारे समाज मे जातीयता की एक नवीन लहर आ रही थी। विदेशी सभ्यता के बाह्याडंबर से देश के नवयुवक आक्रांतित होते जा रहे थे। धर्म के नामपर प्राचीन रूढिया कुरूढिया भी देश के उन्नति-पथ के लिये बाधा बन रही थी। प्राचीन परंपरा मे जकड़े पड़े पुजारी देश की नैतिकता की जड़ों को गलाने मे लगे हुए थे। छूतछात का भूत उनपर ऐसा छाया था कि धर्म के ठेकेदारों की दृष्टि में मनुष्यों की अपेक्षा मिट्टी और पत्थर की मूर्तियों का कहीं अधिक महत्त्व था—कहीं अधिक मोल था। राष्ट्र की जननीशक्ति,

मातृशक्ति नारी का तो समाज मे अधिकार ही कोई नही रह गया था। 'मातृमान्, पितृमान्, आचार्यमान् पुरुषो वेदः' का मान-महत्त्व भुलाया जा चुका था। आज तो 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयताम्' के नारे लगाये जा रहे थे। स्त्री की अशिक्षा ने देश में मूर्खता और गिरावट को खुला मार्ग देकर गिरावट की सारी सामग्री प्रस्तुत कर दी थी। ठीक ऐसे ही समय मे महर्षि दयानंद का प्रादुर्भाव हुआ। उनके प्रकाड पाडित्य ने देश की गति-विधि के भ्रशकर्ताओ को घुटने टेकने के लिये विवश करके फिर से वैदिक सभ्यता का विजयध्वज रोप दिया। उनके द्वारा संस्थापित आर्य-समाज ने पुरानी कुरुढ़ियो को भी तोड़ा और पाश्चात्य नवीन सभ्यता के प्रभाव को भी ठोकर लगाई। उनके इस आदोलन का देश-भर पर प्रभाव पड़ा। ईसाई प्रचारक पादरी स्काट और मैडमब्लैवेस्टकी ने स्वामी जी को गुरुवत् स्वीकार किया। मुसलमानों के तत्कालीन धार्मिक तथा राजनीतिक नेता सर सैयद अहमद खा ने भी स्वामी जी से भेंट कर उनके प्रभाव से लाभ उठाया था। सर सैयद के उस समय के लेख देखकर कट्टर मुसलमानों ने तो उन्हें काफिर-कोटि तक में डालने का प्रयत्न किया था।

स्वामी जी कई बार बनारस भी पधारे। यहा उनके शास्त्रार्थ भी हुए। संभव है स्वामीजी के विचारों से वहा भारतेदु के विचारों को भी एक नई गति मिली होगी। प्रभावग्रहण का सबसे बड़ा एक प्रमाण तो यही है कि उन्होंने अनेक विरोधों का सामना करते हुए भी अपने घर मे स्त्री-शिक्षा को पूरा-पूरा स्थान दिया। इतना ही नही, उन्होंने पढ़ने-लिखने वाली लडकियो को पारितोषिक देकर उन्हे पढ़ने के लिये उत्साहित भी किया। और सच बात तो यह है कि स्वामी जी ने कोई नया मत स्थापित नहीं किया था। उनके आर्य-समाज के सस्थापन का उद्देश्य तो केवल प्राचीन वैदिकधर्म

का पुनरुद्धार था । और इसके लिये आवश्यक था भारतीय जातीयता को नये सिरे से खड़ा करना । भारतेंदु जी ने इसी भारतीय जातीयता को अपने नाटको की आधारभित्ति बनाया और उसी के गौरव-संस्थापन के लिये उन्होंने अपने नाटकों की सामग्री भी भारत के प्राचीन और नवीन इतिहास से ग्रहण की । भारतेंदु जी के पाठक अच्छी तरह जानते होंगे कि भारतेंदु को इतिहास का अच्छा ज्ञान था । इसी इतिहास ने उनमे राष्ट्रीयता की ममता भी उत्पन्न की; परंतु इस राष्ट्रीयता का आधार भी उनकी जातीयता की उत्कृष्टता ही थी । उन्होने दबी भिची वाणी से अंगरेज को भी गाली दी और जी भरकर यवन को भी कोसा । अधिक क्या कहे, उनका भारत हिंदू-भारत रहा । यदि उनके नाटकों मे कुछ राजनीति आई तो इसी हिंदुत्व का आधार लेकर । उनके यहा जिस राष्ट्र का प्रश्न उठा उसमे भी यही हिंदुत्व था । इसी को हम 'भारतेंदु की जातीयता' का नाम देते हैं ।

भारतेंदु साहित्यिक जीव थे । उनका जीवन साहित्यमय था । जैसे वे धनधान्य से संपन्न थे वैसा ही उन्हें दिल भी प्राप्त हुआ था । आकर्षण के लिये उनमें अलौकिक शक्ति भी थी; प्रतिभा भी और साथ ही कुछ लालच के लिये भी । यही कारण है कि इस काल का शायद ही कोई ऐसा कवि या लेखक बचा हो जिसका मानस-चकोर इस इंदु की कला का दर्शन करके इसकी ओर खिंच न गया हो । इस युग के प्रायः सभी हिंदी-सेवी भारतेंदु की निकटता लेकर चले——सभी उनका प्रभाव लेकर चले । फलतः भारतेंदु के प्रायः सभी मित्रो ने, सभी परिचितो ने, कोई न कोई नाटक भी अवश्य लिखा और उस नाटक मे प्रायः रंग भी इसी जातीय भावना का दिया । इसी आधार पर हमने कहा था कि इस युग के नाटकों की काया भी बदली और आत्मा भी । और

भारतेंदु जी के द्वारा तो इसके कलेवर का आवरण भी बदल गया। गद्य पर चला आता हुआ ब्रजभाषा का प्रभुत्व टूट गया और गद्य के क्षेत्र मे खडी बोली ने आधिपत्य स्थापित कर लिया। यही खडी बोली धीरे-धीरे पद्य मे भी अधिकार प्राप्त करती गई और साहित्य-क्षेत्र की एक-मात्र अधिकारिणी होने का दावा करने लगी। तात्पर्य यह कि इस मध्यकाल के नाटको मे तीन बडे परिवर्तन हुए :—

१. कथोपकथन मे पद्य के साथ गद्य को बड़ा भारी स्थान प्राप्त हुआ।

२—नाटकों की रचना जातीयता को लेकर उठी जिसमे प्रच्छन्न रूप से राष्ट्रीयता की भावना भी चलती रही। इसी से हमारी सामाजिकता और सभ्यता को बल दिया गया, कुरूढियो तथा प्राचीन व्यर्थता को हटाकर उपयोगितावाद का महत्त्व स्थापित किया गया।

३—खड़ी बोली के गद्य ने ब्रजभाषा गद्य को हटाया और उसके पश्चात् धीरे-धीरे पद्य-क्षेत्र मे भी स्थान प्राप्त करना आरंभ कर दिया।

भारतेंदु जी के नाटकों मे इन सभी बातो का यथास्थान दर्शन हो सकता है। अपने समकालीन नाटककारो पर भी उनका प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। उनके इस प्रभाव को देखकर कई लेखको ने नाटकों के इतिहास मे इस काल को भारतेंदु-युग नाम भी दिया है। परंतु, शायद इस नामकरण के अवसर पर वे यह भूल जाते हैं कि नाटक-रचना के क्षेत्र मे इन अवस्थाओं का तकाजा था; भारतेंदु तो केवल निमित्त-मात्र थे। समय की माग ने ही इस काल के नाटकों को यह रूप प्रदान किया था। वैसे भी व्यक्तिविशेष के नाम पर युगबँटवारे की अपेक्षा काल-विशेष की प्रवृत्तियो को नामकरण मे विशेषता देना अधिक श्रेयस्कर हो सकता है। इस रूप मे यदि इस

युग के नाटकों को जातीयता-प्रधान नाटक कहा जाये तो अधिक उपयोगी होगा। आगे हम इस काल के कुछ प्रमुख नाटककारों का परिचय देते हुए अपने नाटकों का विकास स्पष्ट करेंगे।

मध्यकाल के नाटककार

महाराज विश्वनाथ सिंह

महाराज विश्वनाथ सिंह बांधव नरेश महाराज जयसिंह के पुत्र थे। ये बांधव गढ़ के शासक थे। संवत् १८४६ में इनका जन्म हुआ और संवत् १८७८ से १९११ तक ये सिंहासनासीन रहे। यह वंश राम-भक्त और साहित्य-सेवी के नाते प्रसिद्ध रहा था। इनके पिता ने भी लगभग २०० पुस्तकों का प्रणयन किया था। विश्वनाथ सिंह के लिखे ३० ग्रंथ कहे जाते हैं। परंतु इनमें से कई तो उनके आश्रित कवियों के लिखे हु हैं। इनके रचे ग्रंथों में एक नाटक भी है जिसका नाम 'आनंदरघुनंदन नाटक' है। यह नाटक लाक्षणिक तथा कलात्मक दृष्टि से हिंदी का सर्वप्रथम नाटक है। इसका संवाद प्रायः गद्य में है। वैसे इसमें पद्यों की भरमार है। गद्य और पद्य दोनों ही ब्रज-भाषा में प्रस्तुत हुए हैं। इस नाटक को हिंदी का सर्वप्रथम मौलिक नाटक कह सकते हैं।

नाटकीय दृष्टि से इसे सफल नाटक नहीं कहा जा सकता। यह एक प्रकार से रामायण का संवाद-संस्करण कहा जा सकता है। पात्रों की संख्या भी सैकड़ों ही होगी। ब्रजभाषा के साथ-साथ संस्कृत, फारसी, अँगरेजी और मराठी के शब्दों का भी खूब प्रयोग हुआ है। वस्तुतः नाट्य-कला की दृष्टि से इस रचना का कोई

महत्त्व नहीं । हां, वैसे यह प्राचीन नाटक है इस दृष्टि से इसे ऊँचा स्थान दिया जाता है ।

गोपालचंद्र (गिरधरदास)

बाबू गोपालचंद्र का जन्म संवत् १८९० मे और परलोक-प्रयाण १९१७ मे हुआ। ये काशी के प्रतिष्ठित रईस और विद्या-व्यसनी सज्जन थे। भारतेंदु इन्ही के सुपुत्र थे। इनके लिखे ४० ग्रंथ हैं। 'नहुष नाटक' नाम का एक नाटक ग्रंथ भी है। परंतु खेद है कि यह नाटक अपूर्ण ही मिला है। इस नाटक के गद्य-पद्य दोनो ही ब्रजभाषा मे है। नाटक मे शास्त्रीय नियमों का विधिवत् परिपालन किया गया है।

बाबू गिरधरदास की भाषा प्रवाहमयी और सरस रही है। ये दोनो ही बातें उनकी रचना पढ़ने से स्पष्ट हो जाती हैं।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र

भारतेंदु बाबू श्री गोपालचंद्र के सुपुत्र थे। गोपालचंद्र केवल एक प्रसिद्ध रईस ही नही बल्कि एक सुकवि भी थे। अतुल सांपत्तिक वैभव के साथ-साथ भारतेंदु को काव्यमय हृदय भी पैतृक अधिकार में मिला था। संवत् १९०७ मे उनका जन्म हुआ और संवत् १९४२ मे मृत्यु। केवल ३५ वर्ष की आयु मे उन्होने छोटे-बड़े कुल १७५ ग्रंथों की रचना की। भारतेंदु हिंदी, संस्कृत, बंगला और अंगरेजी के योग्य ज्ञाता थे। उन्होंने गद्य-पद्य दोनों में ही लिखा। गद्य और पद्य दोनों

मे ही वे नवीनता के जन्मदाता थे। भाषा का रूप-परिवर्तन उन्होंने किया और विचारो का परिवर्त्तन भी उन्होंने किया। हिंदी खड़ीबोली-गद्य के वे जन्मदाता कहे ही जाते हैं। हिंदी-प्रचार के लिये उन्होंने क्या कुछ किया, इसे सभी भाषाप्रेमी जानते हैं। तन, मन और धन सभी उन्होंने भाषा-प्रचार के लिये लगा दिया। स्कूलों, सभा-गोष्ठियों, पत्र-पत्रिकाओं, व्याख्यानो और अभिनयो के द्वारा उन्होंने हिंदी का मोर्चा इतना दृढ़ कर दिया कि कोई भी विरोधी शक्ति उसके दृढ दुर्ग को भेद सकने मे असमर्थ ही रह गई। भारतेंदु की प्रतिमा मे कुछ ऐसा आकर्षण था कि कोई भी व्यक्ति उनके प्रथम दर्शन मे उनका अपना हो जाता था। और उनका अपना हुआ नहीं कि उसी समय हिंदी माता के चरणों पर कुछ न कुछ भेंट करने को प्रेरित कर दिया।

कविता मे उन्होंने शृंगार, भक्ति और राष्ट्रीयता को अपनाया। गद्य मे उन्होने नाटक, निबंध, विवेचना और इतिहास को लिया। उनके लिखे दो अधूरे उपन्यास भी कहे जाते है—१. हम्मीरहठ और २. कुछ आप-बीती कुछ जग-बीती। यहा पर हमारा प्रस्तुत विषय नाटक है इसलिये आगे हम उनके केवल नाटको का ही उल्लेख करेंगे।

भारतेंदु के नाटक

भारतेंदु जीके १७ नाटक मिलते है जिनमें से १० मौलिक है। शेष ७ मे से ५ तो सस्कृत से अनूदित हैं, १ बंगला से और १ अगरेजी से। इनके अतिरिक्त एक नाटक और भी बताया जाता है 'प्रवास'; परंतु वह अप्राप्य है। नाटक-रचना का आरंभ उन्होने लगभग १८ वर्ष की आयु मे किया।

उनके मौलिक नाटकों के नाम इस प्रकार हैं :—

१ विद्यासुंदर, २. वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति, ३. प्रेमयोगिनी, ४. सत्यहरिश्चंद्र, ५. विषस्य विषमौषधम्, ६. चन्द्रावली, ७. भारत दुर्दशा, ८. नीलदेवी, ९. अंधेरनगरी, और १०. सती-प्रताप।

रत्नावली, पाखंड-विडंबन, धनंजय-विजय, मुद्राराक्षस और कर्पूर मंजरी संस्कृत नाटकों के अनुवाद हैं। भारत-जननी में बंगला की 'भारत-माता' का आधार लिया गया है और दुर्लभबंधु शेक्सपियर के मर्चेंट ऑवबेनिस का अनुवाद है।

'विद्यासुंदर' के मूल में यद्यपि बंगला और संस्कृत के नाटक बताये जाते हैं परंतु क्षीण छायामात्र के अतिरिक्त उसमें अन्य किसी का कुछ भी नहीं है। इसमें एक प्रेम-कथा का वर्णन है। इस नाटक की रचना के समय भारतेंदु की आयु १८ वर्ष की थी।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' एक काल्पनिक कथा है। इसमें हिंदू समाज के पाखंड को किस प्रकार नंगा किया गया है यह देखते ही बनता है। इसमें हास्य की पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत हुई है। इसकी रचना संवत् १९३० में हुई थी।

'प्रेमयोगिनी' अपूर्ण रचना है। इसमें तत्कालीन परिस्थितियों को सामने रखते हुए काशी का अच्छा वर्णन किया गया है। वैसे इसमें भारतेंदु की अपनी निजी कथा का भाग प्रमुख रूप से प्रस्तुत रहा है। इसकी रचना सं० १९३२ में आरंभ हुई थी।

'सत्यहरिश्चंद्र' उनका मौलिक पौराणिक नाटक है। इसमें क्षेमीश्वर के चंडकौशिक से भी सहायता ली गई है। इन नाटक में महाराज हरिश्चंद्र की दानवीरता का अच्छा चित्रण हुआ है। इसकी

रचना सं० १६३२ मे हुई और भारतेंदु के जीवन मे ही इसका अभिनय भी हुआ। अभिनय मे भारतेंदु जी ने स्वयं भी भाग लिया था।

'विपस्य विषमौषधम्'–इस नाटक मे मल्हारराव गायकवाड के प्रजा के प्रति अत्याचारो का वर्णन हुआ है। इसकी रचना आकाश-भाषित के ढंग पर हुई है।

'चंद्रावली'—इस नाटक मे प्रेम की वियोग तथा संयोग—इन दोनो अवस्थाओं का सुंदर चित्रण किया है। इस शृंगार-रचना मे विरह का वर्णन अत्यंत सुंदर बन पडा है इसी लिये कुछ रसिको का कथन है कि चंद्रावली भारतेंदु की सर्वोत्कृष्ट रचना है। कुछ भी हो, इस नाटक मे कवि का कृष्ण-प्रेम स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ है। इस दृष्टि से इस रचना को कृष्णकाव्य-निधि का अमूल्य रत्न कहा जा सकता है। इसी महत्त्व के कारण इस नाटक का उसी समय संस्कृत और व्रजभाषा मे अनुवाद भी हो गया था।

'भारत-दुर्दशा'—यह है तो छोटा-सा ही नाटक परंतु इसमें देश-दशा का चित्रण बडी सुंदरता से प्रस्तुत हुआ है। कहा वह प्राचीन भारत और कहां आज का दीन-हीन दुखिया देश। इस सब का एक-मात्र कारण आलस्य और दैव-भरोसा ठहराकर हमारी अंध-परंपरा का उद्घाटन किया है।

'नीलदेवी'—इसमे ऐतिहासिक कथा का आधार लिया गया है। भारत की प्राचीन क्षत्रिय-रमणियों का साहस कितना महान् होता था, इसे इसमे देख सकते है। इसमें नीलदेवी मर्दाने वेश मे अपने पति के हत्यारे, आक्रमणकारी सैनिक के शिविर में पहुंचती है और पति के घातक को मारकर स्वयं भी सती हो जाती है। देश और जाति के

प्रति सच्ची प्रेमभावना से प्रेरित होकर रचा गया यह नाटक पठनीय है।

'अंधेरनगरी'—इस नाटक का पूरा नाम 'अंधेर नगरी चौपट्ट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा' है। यह एक प्रहसन है। इसमे हास्य-द्वारा लालच की बुराइयों का दिग्दर्शन कराया है, साथ ही मूर्खता का परिणाम भी प्रस्तुत किया गया है।

'सतीप्रताप'—इस नाटक मे ७ अंक है, जिनमे से ४ तो स्वयं भारतेंदु जी ने लिखे थे और शेष की पूर्ति उनके फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्ण ने की। यह स्त्रियोपयोगी नाटक है। इसमे सावित्री और सत्यवान् के प्रेम की अमर कथा का वर्णन है। सावित्री अपने पति सत्यवान् को यमराज से किस प्रकार छुड़ाकर ले आती है। इसके द्वारा नारियो को पतिव्रत धर्म का उपदेश देने के लिये ही इसकी रचना की गई जान पडती है।

संस्कृत से अनुवादित नाटकों मे 'रत्नावली' श्रीहर्ष-रचित रत्नावली नाटिका का अनुवाद है। 'पाखंड-विडंबन' संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक प्रबोधचंद्रोदय के केवल तीसरे अंक का अनुवाद है। 'धनंजय-विजय' कविकाचन कृत धनंजय-विजय का अनुवाद है। इसमें पाडवो के अज्ञात-वास के समय कौरवों-द्वारा राजा विराट् की गायें चुराये जाने तथा अर्जुन-द्वारा उन्हे छुड़ाकर ले आने का वर्णन है। 'मुद्रा-राक्षस' विशाखदत्त-रचित इसी नाम के नाटक का सफल अनुवाद है। इस नाटक मे मौलिकता का सा आनंदानुभव होता है। यह नाटक वीररस पूर्ण राजनीति का ग्रंथ कहा जा सकता है। इसी प्रकार 'कर्पूर-मंजरी' भी इसी नाम के, राजशेखर-द्वारा रचे, संस्कृत-नाटक का अच्छा अनुवाद है।

'भारतजननी' का निर्माण भारतमाता नाम के बंगला-नाटक के आधार पर हुआ था। यह नाटक कई बार खेला भी जा चुका है।

'दुर्लभबंधु' शेक्सपियर के मर्चेंट ऑव वेनिस नाम के अंग्रेजी नाटक का अनुवाद है। यह अनुवाद अधूरा रह गया था, पीछे प० रामशंकर व्यास तथा बाबू राधाकृष्णदास-द्वारा इसकी पूर्ति हुई।

इन १७ नाटको के अतिरिक्त भारतेंदु जी ने नाट्यशास्त्र के नियमों के संबंध मे 'नाटक' नाम की एक और पुस्तक भी लिखी, जिसमे उनके नाट्यशास्त्र के ज्ञान-गौरव का अच्छा प्रमाण मिलता है।

भारतेंदु के नाटकों का मूल्यांकन

उनका आदर्श

भारतेंदु ने नाटको के ५ आदर्श माने हैं:—

शृंगार, हास्य, कौतुक, समाज-संस्कार, देशवात्सल्य। उनके सभी नाटकों मे से प्रत्येक मे इन आदर्शों मे से एक या एकाधिक आदर्श अवश्य मिलेंगे। वे स्वयं स्वभाव से रसिक थे इसलिये शृंगारिकता तो उनके लिये स्वाभाविक थी ही। साथ ही, अभी हमारे साहित्य की गति-विधि का रीति-रचना-काल से विच्छेद हुए भी तो अधिक समय नहीं हो पाया था। इसलिये शृंगारिकता तो हमारे इस युग की एक 'अनिवार्य प्रभाव' जैसी वस्तु होनी ही थी। हास्य और कौतुक भी नाटक रचना मे सफलता के लिये आवश्यक गुण है। नाटक मे मनोविनोद की सामग्री इन्हीं के द्वारा तो प्राप्त हो पाती है। उनकी चन्द्रावली मे

शृंगारिकता का सौंदर्य है तो वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, और अंधेर-नगरी मे हास्य और कौतूहल की आभा स्पष्ट है। वैदिकी हिंसा और अंधेर-नगरी तथा विषस्य विषमौषधम् और भारत-दुर्दशा के द्वारा समाज-संस्कार का महत्त्व भी स्पष्ट हो गया है। वस्तुतः यह वह समय था जब कि आर्य-समाज के सुधार-आंदोलन का बोलबाला था। इस समय साहित्यकारों के लिये भी यह बताना अनिवार्य हो जाता था कि उनकी रचना के द्वारा समाज का कितना उपकार हो सकेगा। अतः एक लोकप्रिय नाटककार के लिये समाज-सुधार के लिये प्रयत्नशील होना भी अनिवार्य था। भारतेंदु-युग मे जिस देशभक्ति का उदय हुआ था उसके कारणों का परिज्ञान हम पहले करा आये हैं। यद्यपि उस समय की देशभक्ति और आज की देशभक्ति के आदर्श मे अंतर है और इसी लिये हमने उसे जातीयता का नाम दिया है। अस्तु, यह देशवत्सलता उनके भारत-दुर्दशा और भारत-जननी नाटकों मे स्पष्ट मिलेगी। हमने कहा उनकी देशभक्ति मे जातीयता का महत्त्व कहीं अधिक मूल्य रखता है। इसके उदाहरणों के लिये उनके सत्यहरिश्चंद्र की सत्यप्रियता को भारतीय वाणी की परिपालना और धर्मरक्षा के लिये परित्याग के महत्त्व को गिन सकते है। प्रेमयोगिनी मे भी वही जातीयता आ गई है। सती-प्रताप मे पातिव्रत्य का महत्त्व दिखाकर भी तो जाति के महान् गौरव की गाथा गाई गई है। उधर चंद्रावली में उनकी वैष्णवता की छाप स्पष्ट रूप से बोलती है कि उसका आदर्श जातीयता की नींव पर आधारित है। नीलदेवी मे भी देश की स्वाधीनता का ध्यान इतना प्रमुख नहीं माना जा सकता जितना कि पतिप्रेम; और पति के घातक से बदला लेकर भारत की जातीयता के लक्षण स्वरूप पति के हत्यारे का बध कर के पतिव्रत धर्म का परिपालन।

भारतेंदु-कथित इन आदर्शों के अतिरिक्त उनके अपने नाटकों में हमारी समझ में एक आदर्श और भी रहा है और प्रायः व्यापक रूप से रहा है। यह आदर्श है उनके पात्रो का सच्चित्रण। तात्पर्य यह है कि उनका प्रत्येक पात्र जीवन का एक प्रमुख उद्देश्य लेकर चलता है। मार्ग की बाधाओं मे वह व्यथित भले ही हो जाय, परतु डिगना उसे नही आता। यहा विस्तृत रूप से लिख सकने का अवसर नहीं है वर्ना अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते थे। फिर भी मोटे तौर से सत्यहरिश्चंद्र के प्रत्येक पात्र को, नीलदेवी के नायक-नायिका, सती-प्रताप की नायिका आदि को अपने कथन-प्रमाण मे प्रस्तुत कर सकते हैं। इसी की छाया मे उनके प्रमुख पात्र उठते हैं और विकास पाकर महत्त्व ग्रहण करते हैं। बस, ये ही उनके नाटको के आदर्श हैं।

चरित्र-चित्रण, कथोपकथन और भाषा

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उनके नाटक अच्छा स्थान रखते हैं। उनके प्रत्येक पात्र मे निज की गति है, उनका अपना पथ है, वे निर्बाध गति से चलते और अपना मार्ग प्रशस्त करते हैं। भारतेंदु स्वयं एक अच्छे अभिनेता थे, अभिनेता की कठिनाइयो का उन्होंने अच्छा अनुभव किया था; उनका परिहार भी उन्होंने निकाल ही लिया होगा। तभी तो हमने कहा कि उनके पात्रों मे निर्बाध गति है। बीच मे इस बात को काटते हुए हम एक बात और भी कह दें तो अच्छा होगा क्योकि वह उपयोगी है और स्पष्ट भी। बात यह है कि चरित्र-चित्रण का गौरव भी प्रायः कथोपकन पर ही निर्भर करता है। तो स्पष्ट बात जो कहने की है वह यह है कि भारतेंदु के नाटकों का कथोपकन भाषा और भावो, दोनों की

दृष्टि से बडा सुंदर रहा है। कथोपकन, जिसे हम सवाद भी कहते हैं, पात्रों के आदर्श की कसौटी होता है। प्रभाव-परिपूर्ण संवाद साधारण सी बात मे भी वह बल उत्पन्न कर देता है जो अन्य किसी भी प्रकार संभव नहीं हो सकता। उनकी योग्यता, अनेक भाषाओं की परिचिति, अध्ययनशीलता और सर्वोपरि प्रतिभा ने उन्हे वह शक्ति प्रदान की थी कि उनका कथोपकथन कभी शक्तिहीन तो हो ही नही सकता था। स्वयं वे एक अच्छे व्याख्याता थे इसलिये उनके सवादों मे एक मंजी हुई प्रावाहिकता भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। कथोपकथन तो चरित्र-चित्रण की जान होता ही है। इसलिये भारतेदु चरित्र-चित्रण मे बड़े सुंदर रहे हैं। फिर वे स्वयं एक आदर्श के व्यक्ति थे। सरस मधुरता उनके जीवन की एक रसमय स्मृति है। इसी सरसता और मधुरता को उन्होने अपने नाटकों मे बखेर दिया है। तभी तो उनका कोई पात्र हमे रुचि के विपरीत नहीं जान पड़ता। चरित्र का गौरव रचयिता के अपने आदर्श पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। वस्तुतः सत्यहरिश्चंद्र नाटक की यह उक्ति—

> "चद्र टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार।
> पै दृढ़ नृप हरिचंद को, टरै न सत्य विचार॥"

अवधपति महाराज हरिश्चंद्र की नही अपितु हमारे महाराज कविराज भारतेदु हरिश्चंद्र की है। और इन्हीं उक्तियों में तो वे सूक्तिया बिखर पड़ा करती हैं जिन्हे संत, परमहंस स्वीकार कर निजत्व को सराह उठते है।

भारतेंदु के सभी नाटक सुखांत हैं। वैसे लगभग प्रायः दुःखात्मक अधिक है, परंतु जीवन के संघर्ष मे बढ़ता जाता उनका कोई पात्र निराश होकर हटता नहीं दिखाई पड़ेगा। यही उनके पात्रो का

गौरव है जिसे साहित्य का सत्य कह सकते हैं। समय की विपरीतता का सामना करना उनके पात्रो को बडा अच्छा आता है। उनके ऐतिहासिक, पौराणिक तथा काल्पनिक और जातीय नाटकों मे पात्रों के गौरव का एक मूल्य मिलेगा। बस यही मूल्य उनके कथोपकनो से चरित्र-चित्रण की प्रमुखता उत्पन्न करता है। इस रूप मे भारतेंदु के नाटको का कथोपकथन और चरित्र-चित्रण एक चतुर कलाकार की सुंदर निधिया स्वीकार की जा सकती है।

अब रही उनकी भाषा ; सो भाषा का तो भारतेंदु जी ने स्वयं निर्माण ही किया था फिर उस निर्माता की कृति मे भाषा का स्वरूप कैसा रहा होगा, यह जानना तो सरल सी बात है। भारतेंदु जिस समय रचना-क्षेत्र मे आये उस समय हिंदी-गद्य की भाषा का निर्माण करनेवाले दो दलो मे रस्साकशी हो रही थी। एक दल के नेता थे राजा लक्ष्मण-सिंह और दूसरे दल के नेता थे राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद। पहले राजा संस्कृत-तत्समता के पक्षपाती थे और दूसरे अरबी-फारसी-तत्समता के। भारतेंदु यहा पर समन्वयवादी थे। उन्होने मध्यम मार्ग ग्रहण करके रचना आरंभ की। उनका यह मध्यम मार्ग जनता को भी प्रिय लगा। इसलिये गद्य का स्वरूप जिस ढंग मे स्वीकृत हुआ उसमे न तो संस्कृत की ओर अधिक रुझान था, और न अरबी-फारसी के प्रति घृणा। एक ऐसा मार्ग ग्रहण किया गया था जिसमे जनसाधारण की सुगम गति थी। वैसे उसका खड़ीबोलीकरण तो भारतेंदु से पहले ही आरंभ हो गया था। इस समय कविता में भी ब्रजभाषा का एकाधिपत्य टूटना आरंभ हो गया। भारतेंदु ने भी खड़ी बोली मे पद्य-रचना करके कविता-क्षेत्र मे खड़ी बोली को प्रोत्साहन प्रदान किया। इस प्रकार भारतेंदु ने अपने नाटकों मे जिस भाषा का प्रयोग किया वह जनता की

मानों अपनी ही भाषा थी; इसलिये उनके नाटकों को अच्छा सम्मान प्राप्त हुआ। भाषा-सरलता के कारण रंगमंच पर भी इन नाटकों का अच्छा स्वागत हुआ। इस रूप मे उनके नाटको के पाठक और दर्शक, दोनों ही उनके प्रशंसक रहे।

भारतेंदु जी हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत, बंगला और उर्दू के भी योग्य ज्ञाता थे। बंगला भाषा भारतीय भाषाओ मे एक जीती-जागती शक्ति रखती है। संस्कृत की पदावलियो का कोमलत्व प्रसिद्ध है और उर्दूभाषा की भावप्रवणता। संस्कृत, बंगला और उर्दू की योग्यता के प्रभाव से भारतेदु ने अपनी प्राजल भाषा मे चैतन्यगति के साथ कोमलता और भावप्रवणता कूट-कूटकर भर दी है। भारतेंदु के नाटको की भाषा के संबंध मे कुछ विवेचकों का कथन है कि उसमें एक-रूपता का अभाव झलकता है। यह ठीक है, परंतु ऐसा होने का कारण है। भाषा वस्तुतः भावो का अनुगमन करती है, उसे इसका लिहाज भी करना पड़ता है। यही कारण है कि भावो के उतार-चढ़ाव और रस-निर्वाहन के विचार से नाटक की भाषा मे अनेकरूपता तो स्वयं ही जान-बूझकर खड़ी करनी पड़ती है। हॉ, यह बात बल के साथ कही जा सकती है कि उनकी भाषा ने भावों का अनुगमन करने में सदा सफलता प्राप्त की है। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में प्रावाहिकता और सबद्धता का सौंदर्य भी स्पष्ट झलकता है। लोकोक्तियों तथा मुहाविरों का भी उनके यहा अच्छा प्रयोग हुआ है।

यह हम पहले ही बता आये है कि उनका गद्य खड़ी बोली के आधार पर उठा है और पद्य व्रजभाषा के सहारे पर। उनकी कविता की व्रजभाषा मे वही रीतिकाल की मधुरिमा और आलंकारिकता रही है। भारतेंदु अपने समय के सर्वोच्च कवि थे। नाटककार के लिये

कविवाणी की जो अनिवार्यता बताई जाती है वह उन्हें प्राप्त थी। इसी लिये उनके नाटक भाषा की दृष्टि से पूरे अर्थों मे सफल रहे हैं।

× × ×

भारतेंदु अपने समय के प्रभावशाली साहित्यकार थे। उस समय के साहित्यकारों मे ऐसा कौन था जो उनसे प्रभावित न हुआ हो? धनियो को उन्होंने मित्र बनाकर साहित्य-सेवा के लिए प्रेरणा दी। उन्होंने हिंदी की सेवा तन, मन और धन तीनों से ही की। सर्वसाधारण में साहित्यिक रुचि जगाने के लिये उन्होंने जादू-जैसा प्रभाव उत्पन्न किया। जब लोग उनकी ओर झुके तो उन्हें भी वही प्रेरणा दी गई। स्वभाव के तो वे इतने सरस और उदार थे कि अनेक कवि उनके पास उन्हीं के सहारे पड़े रहा करते थे। आखिर मे इन आश्रितो से भी साहित्य-सेवा ले ली जाती थी। अधिक क्या, वस्तुतः भारतेंदु के समकालीन प्रायः सभी लेखको और कवियो ने उनका आदेश पालन किया। आगे हम जिन नाटककारों का वर्णन करेगे उनमें से प्रायः वे ही होंगे जो भारतेंदु के मित्र थे अथवा उनसे किसी प्रकार का संपर्क रखते थे।

श्रीनिवासदास

श्रीनिवासदास का जन्म संवत् १९०८ मे हुआ और मृत्यु संवत् १९४४ मे। इनके पिता का नाम मंगलीलाल था जो कि मथुरा के प्रसिद्ध सेठ-लक्ष्मीचंद के एक मैनेजर थे और उन्हीं की ओर से देहली में रहा करते थे। यहीं पर श्रीनिवास का जन्म हुआ था। अपनी

योग्यता के बल पर उन्होने अच्छा मान पाया था। थोड़ी सी आयु में वे म्युनिसिपल कमिश्नर और आनरेरी मजिस्ट्रेट नियत हो गये थे। भारतेंदु से इनकी गहरी मित्रता थी। दोनों मे इतना घनिष्ठ प्रेम था कि दोनों पहनावा भी एक सा ही रखते थे। उन्हीं की प्रेरणा से इन्होंने साहित्य-सेवा में हाथ लगाया। इनका 'परीक्षागुरु' हिंदी का प्रथम उपन्यास माना जाता है।

नाटक-रचना मे भी इन्होंने अच्छा नाम पाया। इनके लिखे चार नाटक हैं:—'प्रह्लादचरित', 'तप्तासंवरण', 'संयोगता-स्वयंवर' और 'रणधीर-प्रेममोहिनी'। इन नाटको मे 'रणधीर-प्रेममोहिनी' ने अच्छा मान पाया। यह उनका सर्वोत्तम नाटक है। इसमें प्राचीन नियमों के पालन के साथ-साथ नवीनता का भी अच्छा समन्वय हुआ है। इसमे एक दुःखात प्रेम-गाथा है। शेष तीन नाटक साधारण कोटि के रहे हैं जिनमे से संयोगता-स्वयंवर तो बहुत ही साधारण सा रहा है। भाषा और कला दोनो की दृष्टि से यह नाटक उनके सब नाटकों में निम्न श्रेणी का कहा जा सकता है। यह उनकी अंतिम रचना है। उनके नाटकों की कविता मे उनका अपनापन कुछ भी नहीं दिखाई देता, प्रायः दूसरो के पद प्रयोग किये गये हैं।

उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

चौधरी प्रेमघन का जन्म संवत् १९१२ मे मिर्जापुर मे हुआ था। इन्हे हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत, फारसी और अंगरेजी का भी अच्छा ज्ञान था। लगभग १७-१८ वर्ष की आयु मे भारतेंदु से परिचय हुआ और साहित्य-सेवा की धुन लग गई। मिर्जापुर में कई साहित्य-समाज स्थापित

किये और 'आनंदकादंबिनी' पत्रिका तथा 'नागरी-नीरद' पत्र निकाले। ये गद्य और पद्य दोनो के अच्छे लेखक थे। आलोचना भी अच्छी करते थे। हिंदी-जगत् में उन्हें सर्वप्रथम आलोचक माना जाता है।

प्रेमघन ने चार नाटक भी रचे, जिनके नाम ये हैं—भारत-सौभाग्य, 'प्रयाग-रामागमन', 'वारागना-रहस्य' और 'वृद्ध-विलाप'।

प्रेमघन अच्छे लेखक थे उनकी भाषा मे बल और माधुर्य दोनों ही समयानुसार आ जाते हैं, परंतु फिर भी नाटक-रचना मे उन्हें सफलता मिली नहीं जान पड़ती। उनके भारत-सौभाग्य में पाठको के सौभाग्य से पूरे ६५ पात्र तो वे है जिन्हें प्रमुख कहा जा सकता है; इनके अतिरिक्त साधारण रहे पृथक्। भाषा मे आधी उर्दू है और शेष में मारवाडी और ग्रामीण भाषा की खिचडी। कथोपकथन भी बड़े लंबे-लंबे तथा प्रभावहीन से रहे हैं। वस्तुतः बात यह है कि लेखन-कला में निपुण होते हुए भी उन्हें सफल नाटककार नहीं माना जा सकता। संवत् १९७९ मे ये परलोकगामी हो गये।

बालकृष्ण भट्ट

भट्ट जी संवत् १९०१ मे प्रयाग मे उत्पन्न हुए और संवत् १९७१ मे परलोकगामी। ये हिंदी, संस्कृत और अंग्रेजी के अच्छे ज्ञाता थे। जीविकार्थ कई स्थानो मे अध्यापन-कार्य भी करते रहे। प्रयाग मे इन्होंने हिंदी-प्रवर्धिनी की स्थापना की और भारतीभवन पुस्तकालय स्थापित किया। इन्होंने 'हिंदी-प्रदीप' नामक पत्र का भी कई वर्षों तक प्रकाशन तथा संपादन किया। नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिंदी-शब्दसागर के संपादन मे भी इन्होने सहयोग दिया।

भट्ट जी राष्ट्रीय विचारो के व्यक्ति थे। स्वदेशी-आंदोलन मे उन्होने सक्रिय भाग भी लिया था। साहित्य में वे अपने आपको भारतेंदु का अनुयायी कहा करते थे।

भट्ट जी एक अच्छे निबंधकार और आलोचक थे। उपन्यास-रचना भी उन्होंने की। उनके लिखे कुछ नाटक भी हैं जिनके नाम ये है—'कलिराज की सभा', 'रेल का विकट खेल', 'बालविवाह', 'पद्मावती', 'शर्मिष्ठा' और 'चंद्रसेन'। इनमें से अंतिम नाटक तो मिलता ही नहीं। आदि के तीन की रचना तत्कालीन सामाजिक विषयों को लेकर हुई है। ये नाटक समय के प्रभाव से इतने दब गये कि वे साहित्यजगत् मे ख्याति न पा सके। निःसंदेह भाषा की दृष्टि से उनका एक मोल है। भट्ट जी वस्तु का विस्तार करने की सामर्थ्य नहीं रखते थे। इस बात की शिकायत वे प्रायः मित्रों से किया भी करते थे। उनके निबंधो को देखिये, वे कितने छोटे-छोटे से हैं। यही प्रभाव उनके नाटकों पर भी पड़ा है। हॉ, मुहावरों के प्रयोग का उन्हें बड़ा लालच रहता था। इससे उनकी गंभीरता में एक चहल-पहल सी हो जाती थी।

तोताराम

तोताराम अलीगढ़ के निवासी थे। संवत् १६०४ मे इनका जन्म हुआ और संवत् १६५६ मे मृत्यु। ये हिंदी के अतिरिक्त अंगरेजी, बँगला, गुजराती और महाराष्ट्री के भी योग्य ज्ञाता थे। ये पहले कई स्थानों पर हेडमास्टरी करते रहे, पीछे आकर अलीगढ़ मे प्रेस खोलकर भारत-बंधु नामक साप्ताहिक का प्रकाशन करने लगे। यहीं उन्होंने भाषा-संवर्द्धिनी-सभा और एक पुस्तकालय की स्थापना की। इन्होंने

वाल्मीकि-रामायण का दोहे-चौपाइयो मे अनुवाद भी आरंभ किया था परंतु वह अपूर्ण ही रह गया।

इन्होंने 'कीर्तिकेतु' और 'केटोकृतात' नाम के दो नाटक भी रचे। इनमे से दूसरा नाटक नहीं मिलता। प्रथम की रचना भी कुछ शिथिल सी ही बन पड़ी है। कथोपकथन मे रोचकता का अभाव झलकता है।

प्रतापनारायण मिश्र

मिश्र जी संवत् १६१३ मे कानपुर मे उत्पन्न हुए थे। भारतेंदु के परमोपासक तथा अनुयायी थे। स्वभाव से बड़े मौजी, सादे और हास्य-प्रिय थे। संसार किसी बात के संबंध में हमें क्या कहेगा, इसकी पर्वाह उन्हें कम ही होती थी। व्यंग और विनोदप्रियता तो मानो उनमे कूट-कूटकर भरी हुई थी। संवत् १६५१ मे इनका देहात हो गया।

मिश्र जी गद्य और पद्य दोनों के ही अच्छे लेखक थे। हास्यरस पर वे प्रायः लिखा करते थे। इन्होने 'ब्राह्मण' नाम का एक पत्र भी निकाला था जिसमें देश, समाज-सुधार, हिंदी-प्रचार तथा मनोरंजन-संबंधी सामग्री रहा करती थी। कुछ दिनों तक ये हिंदुस्तान के सहकारी संपादक भी रहे।

मिश्र जी नाट्यकला के उतने ही प्रेमी थे जितने भारतेंदु जी। यह दूसरी बात है कि उनके नाटकों को प्रसिद्धि प्राप्त नहीं हो सकी। परंतु इसमें संदेह नहीं कि इस मार्ग में भारतेंदु जी को इनके द्वारा बड़ा सहयोग प्राप्त हुआ। अभिनय के समय रंगमंच पर नारी पात्रों के अभाव की पूर्ति यदि मिश्र जी द्वारा न हुई होती तो न तो भारतेंदु

के जीवन मे उनके नाटकों का अभिनय ही हुआ होता और न उनको नाकट-रचना के क्षेत्र मे इतनी प्रसिद्धि ही प्राप्त हो पाती ।

मिश्र जी ने कुल ३२ ग्रन्थों की रचना की जिनमें से छः प्रहसन-नाटक भी है । यद्यपि रचना की दृष्टि से ये सभी साधारण कोटि के है, परंतु प्रहसन की दृष्टि से इनका अच्छा महत्त्व है । इनके नाम ये हैं :—'भारत-दुर्दशा', 'अभिज्ञानशाकुंतल' (अनुवाद), 'कलिकौतुक', 'गो-संकट', 'कलिप्रभाव', 'जुआरी खुवारी' । इनके अतिरिक्त 'हठी-हम्मीर' नाम का एक ऐतिहासिक नाटक भी है । भारत-दुर्दशा और कलिकौतुक सामाजिक नाटक हैं । मिश्र जी के नाटको में उनकी कवित्वशक्ति और प्रतिभा के साथ-साथ संयत परिहास भी अपना महत्त्व रखता है । परंतु फिर भी उन्हे जो सफलता निबंध-रचना में प्राप्त हुई है वह नाटकों में नहीं मिल सकी ।

राधाकृष्णदास

इनका जन्म संवत् १९२२ में हुआ । संवत् १९६४ मे इनकी मृत्यु हो गई । ये भारतेंदु जी के फुफेरे भाई थे । पिता तथा बड़े भाई की मृत्यु पर इनका लालन-पालन भारतेंदु जी के घर पर ही हुआ । यहीं इनकी शिक्षा-दीक्षा भी हुई । हिंदी के अतिरिक्त उर्दू , अंगरेजी तथा बंगला आदि का भी इन्हे अच्छा ज्ञान था । इन्होंने लगभग २५ ग्रंथों की रचना की जिनमें से ४ नाटक-रचनाएँ हैं । नाटक ये हैं :—'दुःखिनी बाला', 'महारानी पद्मावती' अथवा 'मेवाड़-कमलिनी', 'धर्मालाप' तथा 'महाराणा प्रताप' ।

इनके अतिरिक्त उन्होंने भारतेंदु के अपूर्ण 'सतीप्रताप' को भी पूर्ण किया। दुःखिनी बाला को सामाजिक नाटक कहना चाहिये। धर्मालाप मे धर्म और जातीयता की स्पष्ट झलक है। 'पद्मावती' और 'महाराणा प्रताप' उनके ऐतिहासिक तथा वीररसपूर्ण नाटक हैं। उनका महाराणा प्रताप तो बहुत ही प्रसिद्ध हुआ है। भाषा-दृष्टि से इसकी रचना बड़ी गौरवमयी हो गई है। नपे-तुले शब्दों के वाक्य लेखक की वाणी के संयम-प्रतीक कहे जा सकते हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी इस नाटक को बड़ा महत्त्व प्राप्त रहा है। उसके पात्रों मे जिस महान् चरित्र की स्थापना हुई है वह अपनी गरिमा मे एक महान् वस्तु है।

महाराणा प्रताप वीररस की रचना है; परंतु हास्य और शृंगार का भी उसमे अच्छा समन्वय हुआ है। जातीयता और स्वदेशाभिमान इस नाटक मे कूट-कूटकर भरा है। यह नाटक भारतेंदु की मृत्यु के लगभग १२ वर्ष पश्चात् संवत् १६५४ मे पूर्ण हुआ। इस प्रकार इसका रचना-काल भारतेंदु और प्रसाद जी के रचना-कालो के बीच में ठहरता है। इन दोनो महान् नाटककारो के बीच के समय में यही एक नाटक है जिसे उस काल की सफल और सर्वोत्कृष्ट नाटक-रचना कह सकते हैं।

केशवराम भट्ट

केशवराम भट्ट संवत् १६११ मे उत्पन्न हुए और संवत् १६६० में परलोकगामी। अंगरेजी, हिंदी, उर्दू, फ़ारसी तथा बंगला का उन्हें अच्छा ज्ञान था। पढने-लिखने के पश्चात् उन्होंने बिहारबंधु-प्रेस की स्थापना

करके उससे इसी नाम का पत्र प्रकाशित किया। फिर डिप्टी इंस्पेक्टरी और पीछे अध्यापन कार्य करते रहे। उसी काल मे इन्होंने कुछ पाठ्य पुस्तकें भी लिखीं। इन पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने दो नाटक भी लिखे—'सज्जादसंबुल' और 'शमशाद-सौसन'। दोनो नाटक बंगला नाटको के आधार पर रचे गये हैं। यह उन्होने स्वयं स्वीकार किया है कि सजादसंबुल शरत्सरोजिनी के आधार पर रचा गया और शमशाद-सौसन सुरेंद्र-विनोदिनी के आधार पर। दोनों नाटकों की कथा-वस्तु सुसंबद्ध और चरित्र-चित्रण अच्छा रहा है। कथोपकथनों मे ग्रामीण भाषा के साथ-साथ उर्दू का भी जी खोलकर प्रयोग किया गया है। अनुवाद-रचना होते हुए भी इन नाटकों मे मौलिकता का आनंद आता है। दोनों नाटक शृंगारप्रधान रहे हैं परंतु विप्रलंभ शृंगार के साथ भयानक का और सयोग के साथ हास्य का भी अच्छा पुट रहा है।

अंबिकादत्त व्यास

अंबिकादत्त व्यास के पूर्वज राजस्थान के रहनेवाले थे। इनके पितामह वहा से काशी आ रहे थे। यहीं संवत् १६६५ में इनका जन्म हुआ। काशी की पाठशालाओं मे संस्कृत पढ़ते रहे और साहित्याचार्य की परीक्षा मे उत्तीर्ण होकर स्कूलों में संस्कृत पढ़ाते रहे। संवत् १६५७ मे इनका देहात हो गया। मरने से पूर्व ये एक वर्ष तक पटना कालेज मे प्रोफेसर भी रहे। इनकी छोटी-बड़ी कुल मिलाकर ७५ पुस्तके हैं जिनमें से कुछ तो अधूरी और अप्रकाशित ही है।

व्यास जी ने कुछ नाटक भी लिखे जिनमे से 'गोसंकट', 'कलियुग-

और घी' और 'भारत सौभाग्य' अच्छे हैं। पहले दो नाटकों में जातीयता की स्पष्ट छाप है। कलियुग और घी केवल आठ पृष्ठों की रचना है। इनके अतिरिक्त 'ललिता', 'मन की उमंग', 'मरहट्ट-नाटक', 'देवपुरुष दृश्य' भी इनके साधारण नाटक हैं। संस्कृत से 'वेणीसंहार' का अनुवाद भी इन्होने किया और एक 'सामवेत' नाम का मौलिक संस्कृत नाटक भी लिखा। परंतु पर्याप्त नाटकरचना करने पर भी उन्हे इस क्षेत्र मे सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। उन्होने अपनी प्रखर प्रतिभा का प्रयोग लंबे-लंबे वाक्यों और पंडिताऊपन की भाषा मे किया है। वस्तुतः ये एक धार्मिक उपदेशक थे इसी लिये उनकी रचना मे साहित्य की वह रसमयता कम ही आ पाई जिसकी छाया मे मानवमात्र एक हो जाता है। और इसी लिये नाटकों की अच्छी संख्या प्रस्तुत करके भी वे असफल ही सिद्ध हुए।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

उपाध्याय जी का जन्म सं० १६२२ मे हुआ। साधारण शिक्षा प्राप्त करके पहले वे अध्यापक बने फिर कानूनगो, गिर्दावर कानूनगो और फिर पीछे काशी-विश्वविद्यालय के अध्यापक। संस्कृत, हिंदी, अंगरेजी, उर्दू, फारसी, गुजराती और बंगला का उन्हें प्रौढ़ ज्ञान प्राप्त था। वे एक संपन्न प्रतिभा के स्वामी थे। साहित्य पर उनका विशाल अध्ययन था। लिखने मे गद्य और पद्य दोनों पर उनको पूरा अधिकार था। कविता-क्षेत्र में वे व्रजभाषा को लेकर उतरे थे। पीछे वे पूर्णतया खड़ी बोली के ही हो रहे। उनकी समर्थ लेखनी का एक महान् गुण यह भी था कि उसमे सरल और जटिल दोनों ही प्रकार की रचना करने की सफल शक्ति थी। उनके 'ठेठ हिंदी का ठाठ' मे खड़ी बोली के सरल

गद्य का महत्त्व स्पष्ट होता है तो 'कबीर-वचनावली' की आलोचना मे दुरूह-वाणी का दर्शन। 'प्रियप्रवास' मे संस्कृत-वृत्तो मे तत्सम-बहुला कविता-माधुरी का आनंद मिलता है तो 'बोलचाल' में निरी सरल बोल-चाल के स्वरूप का रूप। भक्तिक्षेत्र में वे प्रियप्रवास की देन देकर कृष्णोपासक बने और वैदेही-वनवास प्रदान कर रामभक्त होने का गौरव प्राप्त किया। 'रसकलश' की रचना से उन्होंने अपने रीति-ज्ञान का भी पूरा परिचय दिया है। ये सभी वस्तुएं हमारे साहित्य के प्राचीन प्रभाव के रूप मे प्रस्तुत हुई हैं। नवीन प्रभाव से भी वे कुछ कम प्रभावित नहीं हुए। उन्होंने निबंध, आलोचना, उपन्यास और नाटक-रचना में भी योग दिया।

नाटक-रचना उनके साहिहित्यिक जीवन के प्रारंभ की वस्तु थी। साहित्य-क्षेत्र मे अभी वे आये ही थे। और आये भी थे वे पुराने प्रभाव की प्रेरणा लेकर, इसी लिये नाटक के क्षेत्र मे उन्हें उनके नाम के अनुसार महत्ता नहीं मिल सकी। उनके लिखे नाटकों के नाम हैं—'रुक्मिणी-परिणय' और 'प्रद्युम्न-विजय'। रुक्मिणी-परिणय की कथावस्तु सुंदर तथा सुगठित है, परतु भाषा-क्लिष्टता, वाक्यों की लंबाई और बड़े-बड़े कथोपकथनों के कारण नाटक बेढंगा ही रहा। दूसरे नाटक—प्रद्युम्न-विजय—की रचना हरिश्चंद्र के धनंजय-विजय के आधार पर हुई। इसमें गद्य-भाग पद्य की अपेक्षा बहुत ही थोडा है। भाषा की दृष्टि से सफलता इसे भी न मिल सकी। वस्तुतः ये रचनायें आज से पचास-पचपन वर्ष पूर्व की हैं जब कि अभी उनमे साहित्यिक विकास होने ही लग रहा था। इनको तो हम उनकी साधना के प्रथम प्रयास के रूप में ही मानें तो अधिक उचित होगा। वस्तुतः उनका वास्तविक विकास तो कविता-क्षेत्र मे ही हुआ, जहाँ उन्हें सम्राट्-पद की प्राप्ति

हुई। इन नाटकों की असफलता ने उन्हें इस ओर अधिक नहीं बढ़ने दिया। किंतु यदि वे साहस करके इस मार्ग पर आगे बढ़े होते तो नाटकों के इतिहास में भारतेंदु-युग और प्रसाद-युग का नामकरण करनेवालों को एक नाम 'कविसम्राट् उपाध्याय-युग' भी स्वीकार करना पड़ता।

× × ×

इन नाटककारों के अतिरिक्त कुछ और भी नाटक-रचयिताओं के नाम मिलते हैं। भले ही उन रचयिताओं का कोई विशेष नाम नहीं बन सका, परंतु उनके नाटक हमारे साहित्य के गौरव में सहयोग अवश्य देंगे। वृंदावन-निवासी **गोस्वामी राधाचरण** के सात छोटे-छोटे रूपकों में से ऐतिहासिक 'अमरसिंह राठौर' और 'तन मन धन श्री गोसाईं जी के अरपन' (प्रहसन) अच्छे बन पड़े हैं। हिंदी-प्रचार में पर्याप्त सहयोग देनेवाले **बाबू कार्तिकप्रसाद** ने 'रेल का विकट खेल' लिखा। **बाबू काशीनाथ खत्री** ने भी 'सिंधु देश की राजकुमारियाँ', 'बालविधवा-संताप', 'लव जी का स्वप्न' आदि कई नाटक रचे। भारतेंदु के परम कृपापात्र तथा अनेक पुस्तकों के अनुवादक काशी-निवासी **बाबू रामकृष्ण वर्मा** ने भी 'कृष्णाकुमारी', 'पद्मावती' तथा 'वीर नारी' नाटक प्रस्तुत किये। ये तीनों बंगला नाटकों के अनुवाद हैं। मुरादाबाद-निवासी **पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र** ने 'सीता-वनवास' की रचना के अतिरिक्त वेणी-संहार और अभिज्ञान-शाकुंतल का भी अच्छा अनुवाद किया। इसी प्रकार उनके छोटे भाई **बलदेवप्रसाद मिश्र** ने 'प्रभास-मिलन' और 'मीरा बाई' नामक नाटकों की रचना की।

इन नाटकों में हम देखते हैं कि वे प्रायः पुराना प्रभाव लेकर चले

है। इनकी रचनाओं मे या तो इतिहास-पुराण का आधार मिलेगा या धर्म और जातीयता का सहारा। यत्र-तत्र देश-भक्ति का उद्रेक भी दिखाई देगा परंतु वही देश-भक्ति जो हिंदुत्व को लेकर पनपती है। आदर्श के संरक्षण की विशेष चिंता रखी जाती रही, परंतु इसके चक्कर मे पड़कर चरित्र-चित्रण की चिंता प्रायः बहुत ही कम रह गई। भाषा का तो कुछ न पूछिये। भारतेंदु के प्रभाव मे रहनेवाले साथियों और चेलो ने भी अपने-अपने ढंग की भाषा का प्रयोग किया है। यो तो नाटक-रचना में भाषा का रूप कथा की स्थिति के अनुसार होता ही पृथक्-पृथक् रंग में है; परंतु यहां तो हम देखते हैं कि प्रायः नाटककार अपनी भाषा को प्रौढ़ता दे ही नहीं पाये। और यह अस्वाभाविक भी नहीं था। क्योंकि अभी तक हमारे गद्य का कोई सर्वमान्य रूप निर्धारित नहीं हो सका था। व्याकरण सबंधी अन्य अनेक भूलों के अतिरिक्त वाक्य-विन्यास की अव्यवस्था भी गद्य का रूप-निर्धारण करने में बाधक थी। अतः गद्य की दृष्टि से यह काल हमारे नाटको का शैशव-काल था। इस शैशव को संरक्षण देनेवाले सभी लेखक पूर्ण कलाकार भले ही न कहे जा सके; परंतु उस काल के नाटक-रचयिता होने के कारण यश के प्रथम अधिकारी वे अवश्य माने जायेंगे। आखिर हमारे आज के नाटको का भवन-निर्माण उन्हीं की नींव पर होता है इसलिये नाट्यकला के विकास में उनके महत्त्व को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। इसी आधार पर जमे नाटको ने आधुनिक युग में किस प्रकार विकास पाया है यह हम अगले पृष्ठों में दिखाने का प्रयत्न करेंगे।

३—वर्तमान काल

संवत् १६५० से लेकर संवत् २००० तक की नाटक-रचना

इस काल के नाटको मे एक नवीन जीवन का विकास दिखाई पडा। लगभग इस समय तक हमारा गद्य बड़ा पक्का और प्रबल हो चुका था। उसमे आलोचन-विवेचन की वह शक्ति आ चुकी थी कि उसकी छाया मे भलाई-बुराई को देखा-परखा जा सकता था और आगामी पथ निर्माण करने के लिये प्रचार किया जा सकता था। यदि वस्तुतः ध्यानपूर्वक देखा जाये तो ज्ञात होगा कि इससे पूर्व तक का साहित्य साहित्य-दृष्टि से प्रस्तुत नहीं किया गया था। वीरगाथाकार चारणों ने राजदर्बारो की ख्याति में जीविकोपार्जन का उद्देश्य सम्मुख रखा था। भक्तिकाल की कविता में मत-पंथो का संघर्ष स्पष्ट दिखाई देता रहा। रीतिकार कवि स्वयं मन की वासनात्मक तृप्ति के लिये लिखते रहे। इस प्रकार निस्सदेह प्रस्तुतरचना साहित्य के रूप मे भले ही प्रस्तुत हो गई हो परंतु उसका प्रमुख उद्देश्य साहित्य-निर्माण बन सका हो, ऐसा कदापि नहीं माना जा सकता। गद्य के निर्माण-काल के आरंभ मे अलबत्त साहित्य के उद्देश्य के संबंध मे विचारने का ध्यान अवश्य आने लगा था, परंतु उसका पूरा विकास पूरे अर्थों मे उसी समय हुआ जिस समय सरस्वती के महावीर ने अपनी गदा-लेखनी के प्रहार से अनधिकारी रचयिताओं को ऊटपटांग ढंग की रचना करने से एकदम रोक दिया था। सरस्वती मे वे लगभग सवत् १६६० मे आये। इस प्रकार का वातावरण यो तो खडी बोली के प्रथम आचार्य श्रीधर पाठक के समय मे तब से १०-१२ वर्ष पूर्व

उत्पन्न होना आरंभ हो चुका था जो कि द्विवेदी जी के सरस्वती मे आते तक तो बहुत ही बल पकड़ चुका था। मोटे तौर से इस नवीनता का आरंभ इसी लिये हम संवत् १९५० के लगभग मान लेते हैं। इस समय तक क्या भाषा और क्या भाव, दोनों मे ही उस चेतना का विकास आता दिखाई देता है जिसमे साहित्य की रचना का उद्देश्य साहित्य का हितचिंतन भी प्रतीत होता है। यहीं आकर कलावादियों का अपना एक नया नारा 'कला कला के लिये' लगने की तैयारी होने का सामान तैयार होना आरंभ हुआ है और यहीं आकर साहित्य के रहे सहे प्राचीन रूढ़िग्रस्त बंधन टूटने आरंभ होते हैं। प्राचीन साहित्य-शास्त्र संबधी परपराये नष्ट होनी आरंभ हो जाती है। अंगरेजी पढ़े-लिखे नये लेखको ने पश्चिम के प्रभाव में आकर खान-पान तथा परिच्छद में ही नही अपितु आत्मिक सत्ता के ऊपर भी विलायती प्रभाव स्वीकार कर लिया था। यदि उन्हे रोका न जाता तो निःसंदेह उनके हाथो भारतीय संस्कृति और सभ्यता का सम्मान भरें बाजारों बिक गया होता। परंतु हमारे यहा कई ऐसे लेखक भी आये जिन्होने रूढ़ियो के वितंडावाद का तो पूरे जोर के साथ विरोध किया परंतु भारतीय आत्मा को अक्षुण्ण रखने की प्रतिज्ञा का भी पूरा पालन करके दिखाया। इस बात की साक्षी के लिये यहा हम केवल नाट्य-साहित्य के उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। हमारे नाककारों में ऐसी नभ्यता के हामी प्रमुखतया जो लेखक गिनाये जा सकते है उनमे जयशंकर 'प्रसाद', उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविंददास और 'प्रेमी' का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है।

इस युग के नाटक केवल मनोविनोद की ही वस्तु नही रह जाने दिये गये। उनमे किसी हितचिंतना की माग उठाई गई, जिससे मानव

को कुछ भी लाभ प्राप्त हो सके। फलतः इस युग में सर्वप्रथम तो इतिहास की जगह वर्तमान समाज की समस्याएं प्रस्तुत की जाने लगीं। अतीत के सौंदर्य मे भले ही सभी कुछ है, परंतु वस्तुतः वह पूर्वजो की अस्थियों से अधिक कुछ भी नहीं। दूसरी बात हुई यह कि नाटक में जनसाधारण की समस्याओं को विशेषता दी गई और नायकत्व तक के लिए उन्हें स्थान प्रस्तुत किये जाने लगे। अब वह बात नहीं रह गई कि केवल श्रेष्ठ कुल के व्यक्ति ही नेतृत्व प्राप्त कर पा सकते हो। तीसरी नई बात संघर्ष के संबंध में सामने आई। अभी तक प्रायः बाह्य संघर्ष को ही महत्त्व दिया जाता था, परंतु इस युग मे ऐसा नही रह गया। बल्कि बाह्य संघर्ष की अपेक्षा आतरिक संघर्ष को प्रधानता दी जाने लगी। चरित्र-चित्रण के महत्त्व का आधार यही अंतरद्वंद्व बनना आरंभ हो गया। चौथी बात व्यक्तिवाद की जगह पर समष्टिवाद की स्थापना थी। पहले जहा समस्या का मूल व्यक्ति को मान लिया जाता था अब वहा उसका उत्तरदायित्व समाज पर पड़ना आरंभ हो गया। पाचवीं बात स्वगत कथन के संबंध मे थी। स्वगत कथन एक अस्वाभाविक सी वस्तु प्रतीत होती है इसलिये उसका उठा देना अच्छा ही रहा। छठी बात, कविता का आधिक्य हटाने के लिए एक प्रयत्न था। नाटको मे पहले जहां निरी कविता ही भरी रहती थी अब वहा कविता का स्थान उसी परिमाण मे रह गया जिस परिमाण मे हम अपने जीवन में गाया करते हैं। हमारे व्यावहारिक जीवन में कविता-गान सदा तो होता नहीं। उसका अवसर तो प्रायः बहुत ही कम मिला करता है, अतः हमारे जीवन का चित्र प्रस्तुत करनेवाले नाटक किसी ऐसी अस्वाभाविकता मे कैसे फंसे रह जाते जो जीवन-व्यवहार के विरुद्ध दिखाई पडती हो। सातवी बात गिननी चाहिये प्राचीन नियम-बंधनों के अनुसार प्रस्तावना, नादी,

गर्भांक और भरतवाक्य आदि के उडा देने की योजना-संबंधी । इन सब झंझटो को हटाकर अंको के विभाजन की प्रथा प्रबल की गई । अर्थात् अंकों को दृश्यो मे बाटा जाना आरंभ हो गया । आठवीं बात यह है कि नाट्य-साहित्य मे हमारे जीवन-चित्रो को सच्चे रूप मे चित्रित करने की दृष्टि से, हमारी जीवन-नीति का विकास होने लगा । इसी के अतर्गत उसमे राजनीति और समाज-निर्माण की ओर भी ध्यान गया । नवीं बात विदूषक के पद के लिए किसी विशेष व्यक्ति की नियुक्ति की प्रथा से संबध रखती है । पहले नाटको मे हंसने-हंसाने की जिम्मेदारी नाटक के किसी प्रमुख पात्र पर डाल दी जाती थी; परंतु इस युग में आकर उसका निश्चित पद उडा दिया गया । वस्तुतः यह है भी सर्वथा संगत ही, क्योकि संसार मे यदाकदा सभी तो हसते है, फिर उसका एकाधिकार किसी व्यक्ति विशेष को क्यो दे दिया जाय ?

खेद की बात है कि हमारे कई विद्वानों ने इनमें से कई बातो को पश्चिम के इब्सन आदि के प्रभाव के अंतर्गत माना है; परतु ऐसा समझना सर्वथा और निपट भूल है । वस्तुतः ऐसा होना समय की माग का परिणाम मात्र था । स्थिति ने उसे स्वयं ऐसा बना लिया । देश की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति ने ऐसा हो जाने को विवश कर दिया था । इसी लिये ऐसा होना अनिवार्य था । इस युग के प्रमुख नाटककार प्रसाद को ही लीजिये । उन्होंने एक दो नहीं अपितु पूरे एक दर्जन नाटक लिखे और सभी को भारतीय आदर्श पर खडा किया । पश्चिम के सारे साहित्य के मूलाधार भौतिकवाद का महत्व हमारे किस कलाकार ने चित्रित किया है ? इस युग के प्रसिद्ध नाटककार जयशकर 'प्रसाद', उदयशंकर 'भट्ट', सेठ गोविंददास और हरिकृष्ण,

'प्रेमी' ने जिस भारतीयता का गौरव अपनी रूपक-रचना मे स्वीकार किया है उसमे तो पश्चिम की बीमारी का कोई प्रमुख कीटाणु दिखाई देता नहीं। पर हा, आजकल हमारे बाजार मे विलायती मुहर करके बेची जानेवाली वस्तु का मोल अन्य की अपेक्षा कहीं अधिक मिल जाता है इसलिये जिस वस्तु को अधिक बड़प्पन देना होता है उसे दूसरे शब्दों मे विलायती, पश्चिमी अथवा योरपीय कह लिया जाता है। और भी कुछ नहीं तो उसकी नकल कहने से भी उसे कीमती मान लिया जाता है। किंतु यदि हमसे पूछा जाय तो यही कहने का साहस करेंगे कि हमारे आज के साहित्य ने पुरातन गौरव की सम्मान-छाया मे रहते हुए भारत की उस रीति-नीति का प्रभाव ग्रहण किया है जिसका निर्माण देशपूज्य महात्मा गाधी के हाथो हुआ है। उपन्यास और कहानीक्षेत्र मे उसकी पूरी छाप प्रेमचंद तथा जैनेद्र के समान और भी अनेक कलाकारों पर पड़ी। उसी प्रकार आज के नाटकों मे शोषण की कथा के मध्य शोषक और शोषित की मूर्तियां खड़ी करके उनमे से शोषित का पूजन और शोषक का बहिष्कार करना हमने वही से सीखा है। प्रसाद की 'कामना' मे उसकी सूक्ष्म झलक है; प्रेमी के 'बंधन' मे वही वस्तु है। सेठ जी के 'प्रकाश' मे उसी की झलक है। प्रेमचंद के 'संग्राम' और रामनरेश त्रिपाठी के 'जयत' मे भी हमारे इसी मत का प्रतिपादन मिलेगा। रूपक जहां तक हमारे जीवन-सिद्धांतों और मनोभावो से मेल खाते चलते है वहीं तक वे हमारे अपने होने की गुंजाइश रखते है। हमारी आज की कविता में कुछ दिन के लिये दुनिया के विलास-प्रधान देशों की ओर से एक हवा आई थी जिसकी ध्वन्यनुभूति में "कला कला के लिये" का स्वर था। भूखे और प्यासे देश ने भी कुछ दिन उसका रस-पान किया; परतु उससे न तो भूख ही मिटी और न प्यास ही। फलतः वह

हमारे यहा मान नहीं पा सका। यह रोग अपना कुछ सूक्ष्म सा प्रभाव लेकर कविवर पत और सूक्ष्म रूप से माननीय उदयशंकर भट्ट के द्वारा नाटक-क्षेत्र मे भी उतरा, परंतु उसका सत्कार नहीं हुआ। यहा आकर आधुनिक काव्य-गौरव कविमहान् सूर्यकात त्रिपाठी 'निराला' का प्रगति-वाद इस पथ मे आड़े आया। यही प्रगतिवाद भारत के सर्वसाधारण की अंतरात्मा की आवाज थी जिसका सब ओर आदर हुआ। कविता को जो आदमी विलास और मनबहलाव की वस्तु माननेवाले हैं उनकी बात जाने दीजिये। बाकी जो व्यक्ति साहित्य से समाज-निर्माण का भरोसा रखते है उनके लिये प्रगतिवाद ने पूरी-पूरी प्रगति दी। कविता के आगे गद्य-रचना पर भी इसका प्रभाव पड़ना आरंभ हुआ। राज-नीति मे उग्रवादिता को पनपाने के पक्षपातियों ने उसमे बड़ा भरोसा पाया। कथा-कहानी और उपन्यासों के द्वारा उसका प्रचार आरंभ हुआ। नाटक में भी वह वस्तु सामने आती दिखाई दे रही है। वस्तुतः प्रगतिवाद में हमारी आज की भूख और प्यास का हल है, इसलिये यह प्रगतिवाद एक दिन हमारे साहित्यभर पर छा जाये तो कोई अचरज नहीं। हमारी कला यदि इतनी नाजुक रहती रही कि वह "कला कला के लिए" के स्वर मे गूंजती हुई केवल अपना ही शृंगार रचा करे और इधर संसार का तनिक सा बोझा भी उठाने के लिए तैयार न हुआ करे, तो वह दिन दूर नहीं कि आज का कर्मठ देश उसे साहित्य से अलग हो जाने को कह दे। भारत का साहित्य सदैव जीवन के लिये रहा है। उसकी कला और सर्वोच्च कलाकार—सर्वकला-संपन्न सच्चिदा-नंद उसके अपने जीवन के लिये रहे हैं। फिर आज वह पुरातन आदर्श उससे कैसे दूर किया जा सकेगा? अभिप्राय यह है कि हमारे नाटकों में भी प्रगति का पथ प्रशस्त होता जा रहा है। और

वह दिन दूर नहीं है जब हमारे साहित्य का बहुमत उसी के साथ जुड़ जाये; अस्तु।

आगे हम इस युग के प्रधान नाटककारों का परिचय देते हुए उनके रूपकों का विकास प्रस्तुत करेंगे।

वर्तमान काल के नाटककार

वर्तमान काल के नाटककारों और उनके नाटकों का परिचय देने से पूर्व अच्छा होगा यदि हम उन्हें किन्हीं विशेषताओं के आधार पर विभाजित कर लें। हम देखते हैं कि ये नाटककार दो श्रेणियों में आ सकते हैं। एक के तो वे हैं जिन्होंने लिखा तो चाहे कितना भी हो—चाहे बहुत अधिक और चाहे अत्यल्प—परंतु वे उस क्षेत्र के माने हुए अधिकारी स्वीकार कर लिये गये। दूसरे उन्हें मान लीजिये कि जिन्होंने उस विषय को अपनी लेखनी का प्रमुख गौरव तो नहीं दिया, बल्कि समय के प्रवाह को देखकर उस विषय पर भी लेखनी की परख करने के लिये कुछ लिख डाला। इन्हीं दूसरे प्रकार के नाटककारों में एक वे भी हैं जिन्होंने प्रयत्न तो पर्याप्त किया, परंतु संसार को उनका प्रयत्न प्रसन्न करने में असमर्थ रह गया।

प्रमुख नाटककार

प्रथम श्रेणी के नाटककारों ने जो भी रचना प्रस्तुत की उस पर उसकी छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। भाषा, भाव, चरित्र-चित्रण,

आदर्श और कल्पना तक की दृष्टि से उनका अपना 'अपनापन' अलग ही दिखाई पड़ता है। वस्तुतः नाटक-रचना के लिये कवि-हृदय की अपेक्षा होती है। कवि की कविता के अतिरिक्त उसमे गद्य की प्रधानता तो स्पष्ट है; परतु गद्य भी तो कवि की रचना की कसौटी ही है। यही कारण है कि उच्च श्रेणी के नाट्यकारों मे बहुलता कवियो की ही है। कई नाटककार ऐसे भी है जिन्होंने मौलिक रचना तो नही की परतु नाटक-रचयिताओ मे उन्होंने अच्छा नाम प्राप्त किया है। जैसे श्री सत्यनारायण, कविरत्न और रूपनारायण पाडेय। यहा, मौलिक और अनुवादक की दृष्टि से विभाजन करना हमारा दृष्टिकोण नही फिर भी स्पष्टता और समझने की सरलता की दृष्टि से इन अनुवादकों का स्थान अलग, इन मूल लेखकों के अत मे रख दिया गया है। अब यदि आगे हम देखते है कि नाट्य-कला का वास्तविक महत्त्व किसने ठीक तरह से परखा है; और उसमें कौन और कहा तक सफल रहा है तो इस प्रकार पता चलेगा कि जयशंकर 'प्रसाद', सेठ गोविंददास, उदयशंकर भट्ट, गोविंदवल्लभ पंत, लक्ष्मीनारायण मिश्र और हरिकृष्ण 'प्रेमी' हमारे आज के प्रमुख नाटककार हैं। ये वे कलाकार हैं जिन्हें हम आज के नाट्य-साहित्य का प्रमुख आधार कह सकते हैं। इनकी ख्याति का विशेष महत्त्व उनकी नाटक-रचना पर ही निर्भर है। भले ही इनमें से सेठ गोविंददास कविता-क्षेत्र से कोई विशेष नाता नहीं रखते, परंतु फिर भी उनके नाटकों के अपने गुण हैं। सेठ जी नाटक-संसार मे एक नवीनता के प्रसारक है और उस नवीनता में भी प्रमुख है उनकी राज-नीतिक भावना। उनकी कल्पना और शैली मे उनका अपना गौरव निहित है। आगे हम इन नाटककारों के सबध मे कुछ व्याख्यात्मक ढंग से परिचय देंगे।

जयशंकर प्रसाद

प्रसादजी का जन्म काशी नगरी में संवत् १६४५ वि० मे हुआ और वहीं वे संवत् १६६४ वि० मे स्वर्गगामी हुए। उनके पिता श्री सुंघनीसाहु जरदे के बड़े भारी व्यापारी थे। इस भरे-पूरे घर में बडे लाड़-चाव से उनका परिपालन हुआ। उनकी शिक्षा-दीक्षा प्रायः घर पर ही और प्रायः अपने भरोसे पर ही हुई। हां, वे अध्ययनशील थे। स्वाध्याय का उनको व्यसन था। उनका अध्ययन भी बड़ा गंभीर था। वैदिक साहित्य मे उनकी गहरी अभिरुचि थी; इतिहास उनका प्रिय विषय था। कुछ भी लिखने से पूर्व उन्होंने उसके संबंध में कुछ पढने का—मनन करने का—कष्ट किया, इसे मानने से इनकार नहीं किया जा सकता। शरीर से वे स्वस्थ और हट्टे-कट्टे थे तो स्वभाव से वे लज्जा-शील और विनीत थे। ये ही दोनो बातें उनके साहित्य मे भी झलक पडेंगी। उनकी रचना मे उनकी ही सी स्वस्थता और पक्कापन है और उनका सा ही संकोच-स्वरूप। भाषा का संकोच मै इसी को मानता हूं कि वह अपनी परिमित परिधि में ही चलती है। उसमे तत्समता को छोडकर अन्य कोई और प्रभाव तो दिखाई ही नहीं पडेगा। कहते हैं कि उन्हे काशी से बाहर जाने की इच्छा ही प्रायः नहीं होती थी। काशी मे भी उनकी बैठक या तो दुकान पर या घर पर और बहुत हुआ तो गंगा के तट तक। बस, इतने परिमित क्षेत्र मे जो भाषा बोली जायेगी वही उनके लिये विश्वभाषा हो जायेगी। संभवतया उन्हे यही विश्वास हो चुका था कि वे जैसी भाषा लिखते हैं देश भर उसी को बोलता है। यह अच्छा हुआ अथवा बुरा, यह मनस्वी पाठक स्वयं निर्णय कर लें; परंतु हम तो केवल इतना बताना चाहते थे कि उनकी भाषा भी उन्हीं

की तरह से लज्जाशील है। उसमे किसी अन्य भाषा के सामने हाथ फैलाने का भाव ही नहीं मिलता।

लिखने का चाव उन्हे बहुत पहले से लग गया था; परंतु उस बहुत पहले की और आज की रचना मे बहुत अंतर है। पहले तो उन्होंने 'इंदु' मे ही हाथ माजा था।

प्रसाद जी जैसे ही उद्योगशील थे वैसे ही प्रतिभाशाली भी। उस प्रतिभा का विकास किस प्रकार हुआ, इसे हिंदी-साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी भली भॉति जानता है। साहित्य-क्षेत्र मे वे व्रजभाषा के कवि बनकर आये। इसके पीछे वे अतुकात की ओर बढे। इस प्रतिभा का प्रथम विकास काशी के 'इंदु' से होता है।

प्रसाद जी ने गद्य और पद्य दोनों मे अपनी प्रतिभा का प्रमाण दिया। पद्य मे वे व्रजभाषा के द्वार से लेकर आधुनिक खडी बोली के अतुकांत और स्वच्छंद-छंद तक के सभी भागो को माप गये। अतुकात और स्वच्छंद-छंद के तो वे सर्वप्रमुख कवि माने ही जाते है, साथ ही हिंदी-काव्य-जगत् मे नवीन रहस्यात्मकता के प्रवर्तक भी उन्हें ही माना जाता है। इस रूप मे उन्हे इस युग का बहुत बडा—सर्वोच्च कवि कह सकते है। इसी प्रकार गद्य मे भी उन्होने सभी कुछ लिखा। नाटक, कथा, उपन्यास, निबंध, आलोचना और गद्य गीत—गद्य के इन सारे अंगों मे से उन्होंने कुछ भी नहीं छोड़ा। वे ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा लेकर कविता-क्षेत्र मे उतरे थे। कविता-जगत् मे उनकी 'कामायनी' अमर रहेगी। कामायनी सा काव्य हमारे यहा इस युग की एक बड़ी देन माना जायेगा। उसके जैसा प्रबंध शायद अभी दस-बीस वर्ष मे तो सामने आ सकेगा नहीं। ऐसा हम इसलिये कहते है कि प्रसाद की

जैसी प्रतिभा का कोई दर्शन तो होता ही नहीं दीख पड़ता। हां, तो भाव यह है कि वे कवि थे और महाकवि। 'कवि' की कसौटी होती है उनकी गद्य-रचना। उन्होने गद्य लिखने मे कोई कसर नही छोड़ी यह हम पहले ही बता आये है। उनका सा मंजा हुआ—कविता के जैसा आनंद देनेवाला—गद्य कम ही लोग लिख पाये होंगे।

प्रसाद जी की इस साहित्यिकता के मूल मे उनका स्वाध्याय और गभीर अध्ययन काम करता था। कहते हैं कि उपनिषदो का अध्ययन उनका कभी भी छूटता नही था। इस रूप मे वे आध्यात्मिकता की तह मे थे। इतिहास उनका प्रिय विषय था और उनके इस विषय के अध्ययन पर पूरी-पूरी मुहर लगी थी भारतीयता की। उनका कवि-हृदय, उनका अध्यात्म-प्रेम और इस भारतीय इतिहास का अध्ययन, ये तीनो मिलकर उनके नाटक बन जाते हैं। और इसी समन्वय के कारण प्रसाद आज के ही नही अपितु आज तक के सर्वोच्च नाटककार है। प्रसाद के नाटक हिंदी-साहित्य के एक अंग की पूर्ति करते हैं। तभी हम कहते है कि यदि हमारे यहां से उनके नाटक निकाल दिये जायें तो हमारा यह कहने का अधिकार छिन जाता है कि हमारे यहा भी अच्छे नाटक हैं।

प्रसाद जी ने नाट्य-रचना का आरम्भ लगभग २२ वर्ष की आयु मे किया। उनका पहला नाटक **'सज्जन'** था जो सं० १९६७ वि० मे 'इंदु' पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। इसके पश्चात् एक-एक वर्ष के अतर से **'करुणालय'**, **'प्रायश्चित्त'** तथा **'राज्यश्री'** की रचना हुई। फिर सं० १९७८ वि० मे **'विशाख'** की रचना हुई। इसके दूसरे वर्ष **'अजातशत्रु'** की रचना हुई, फिर संवत् १९८३ मे **'जनमेजय का**

नागयज्ञ' निकला। इसके एक वर्ष पश्चात् 'कामना' की रचना हुई और संवत् १९८५ वि० मे 'चंद्रगुप्त' और फिर 'स्कंदगुप्त-विक्रमादित्य' प्रकाशित हुआ। संवत् १९८६ मे 'एक घूंट' की रचना हुई और संवत् १९९० मे 'ध्रुवस्वामिनी' की। कामना इनका कल्पनामूलक भावात्मक नाटक है। शेष प्रायः ऐतिहासिक तथा पौराणिक है। पुराण भी आखिर इतिहास ही है इसलिये कहना चाहिये कि उनके प्रायः नाटक इतिहास की भूमि पर खड़े हैं। प्रसाद जी ने किसी ज्ञात इतिहास का आधार लेकर कुछ सरल पथ से अपना काम चला लिया हो सो बात नहीं। इतिहास का वह युग जो प्रायः अधकारमय रहा है, उसमे से ही उन्होंने सामग्री बटोरी है। उन्होंने तो जहा नाटक का निर्माण किया वही इतिहास की टूटी कड़ियों को भी जोड़ देने का कार्य किया है। हम जितने उपकृत उनकी नाट्य-रचना से हैं उससे अधिक उनके इतिहास-तथ्यान्वेषण से। इतिहास एक गभीर विवेचन लेकर चलता है, यही कारण है कि उनके नाटक गंभीर वातावरण से परिपूर्ण दिखाई पड़ते है और इसी लिये उनमे हास-परिहास की व्यवस्था का भी अभाव सा रहता है। क्या हुआ यदि उनके समस्त नाटकों में पाच-सात स्थलों पर हसी आ भी गई तो।

प्रसाद के गांभीर्य मे उनकी दार्शनिकता निहित है। इस दार्शनिकता मे उनका विवेचन कुछ अधिक विस्तार पाकर रगमचोपयोगी नाटक की दृष्टि से दोष बन जाता है। रंगमच की भाषा सरल होनी चाहिये और उत्तर-प्रत्युत्तर साधारणतया अधिक लंबे नहीं होने चाहियें। उनके नाटकों मे इन बातों का अभाव देखकर किसी ने उनसे इस सबंध मे कहा भी था। कहते हैं, उन्होंने इस बात का उत्तर दिया था कि व्यक्ति की मनोवृत्ति रगमंच का अनुसरण करे न कि रंगमंच जनता का अनुसरण।

एक अर्थ मे यह बात विल्कुल ठीक भी है; रचयिता आखिर किसी का दास तो है नही, हा यदि उसे अपनी बात के प्रचार की चाह है तो भले ही वह जनता के इच्छित मार्ग पर चले । यदि कहने वाले मे कोई गुण है तो सुननेवाले को बरबस उसे समझने के लिये सामर्थ्य बटोरनी पड़ेगी ही। तात्पर्य यह है कि वे जग की वाहवाही के भूखे नही थे इसलिये अपने स्वभावानुसार जो शब्द उनके अपने पास थे उन्हीं मे लिखा। उत्तर-प्रत्युत्तर का लंबा-चौडा हो जाना भी स्वाभाविक ही था । भला जहा उत्तर-प्रत्युत्तर किसी तार्किक शैली पर खड़े होंगे वहा विवेचन का विस्तार तो अपने आप ही हो जाना हुआ।

किसी भी समय के इतिहास को समझाने के लिये उस काल के जितने भी अधिक व्यक्ति हमारे सामने आ जाये उतनी ही अच्छी तरह हम उस इतिहास को समझ लेंगे। परंतु नाटक मे इन व्यक्तियो की संख्या पाठकों को और विशेपतया इन नाटको के विद्यार्थियो को अखरती है। तीस-तीस और चालीस-चालीस व्यक्तियों के नाम याद रखे रहना बड़ा कठिन काम है; इसलिये इस दृष्टि से यदि इन नाटको को दोप दे दिया गया हो तो कोई अचरज की बात नही। परंतु नाटककार इतिहासकार के नाते इससे कम में निर्वाह नही कर सकता हो तो इसमे उसका क्या दोष ? वह पूरी बात कहता है और उसकी व्याख्या के लिये एक-एक व्यक्ति की गिनती देता है तो उसका क्या दोष ? पात्र-संख्या बढने के भय से तो वे विदूपक आदि का भी स्थान हटाये हुए हैं; फिर कैसे कहा जा सकता है कि नाटक के पात्रों की संख्या मे आधिक्य का अनौचित्य रहा है।

ऐसा ही दोप उनकी कथावस्तु की स्थूलता को भी दिया जाता

है। एक-एक नाटक में सात-सात और आठ-आठ अंक और एक-एक अंक में एक-एक दर्जन तक दृश्य! इससे पाठक तो घबरा ही उठेगा, साथ ही ऐसे नाटक को रंगमंच पर लाने मे भी कठिनाई होगी। परंतु नाटककार क्या करे! उसे अपने विषय का पूरा ब्योरा देना है; जिसे उसे जानना हो वह उसे स्वीकार करे, जिसे इच्छा न हो वह चाहे उसे कैसा भी कह ले उसे इसकी खुली छुट्टी है।

भाषा भी, उनके पात्र तत्समता लेकर प्रयोग करते है जिससे जन-साधारण उनके नाटको से लाभ नहीं उठा सकता—यह भी उन्हे एक दोष दिया जाता है। परंतु इसमे रचयिता का दोष नही; दोष है द्रष्टा की बुद्धि की कमी का—उसके ज्ञान की अल्प मात्रा का। एक योग्य व्यक्ति किसी गहरी समस्या को जिस दार्शनिक बुद्धि से समझाये, यदि वह किसी को अनुचित लगे तो इसमे दोष किसका? खैर, इस प्रकार के अनेक दोष उनकी जटिल भाषा और उनके नाटकों की स्थूलता आदि पर लगाये जाते है, परंतु उनमे तथ्य कहा तक रहता है इसे निर्णायक बुद्धि स्वय सोच सकती है।

प्रसाद के प्रधान चरित्रो मे कवित्व और दार्शनिकता का समन्वय है। उनमें दया है, क्षमता है और है सहन-शीलता। उनके पात्र शक्ति रखते हुए भी हिंसक नहीं है। क्रूरता से उन्हें घृणा है। परोपकार की भावना से उनमे त्याग का बल दर्शनीय रहता है।

उनके नाटकों में कथानक की स्वच्छंदता तो अवश्य है; परंतु साथ ही आदर्शवादी शैली का भी उनमे अपूर्व समन्वय हो जाता है। कहीं-कहीं यह आदर्शवाद थोथा रूखापन धारण कर लिया करता है; परंतु प्रसाद के यहां इन आदर्शवादियों की कवित्वपूर्ण

मनोहर उक्तियां हृदय स्पर्श करके चलती हुई अत्यंत आनंद प्रदान करती हैं।

प्रसाद के प्रत्येक नाटक को लेकर अलग-अलग करके उनके संबंध में अनेकों बातें कही जा सकती है, परंतु यहां इतना अवसर नहीं है। अब हम उनके संबंध मे इतना कहकर ही इस प्रसंग को समाप्त करेंगे कि उनकी भाषा भावानुरूपिणी होकर चलती है। उसमे रस होता है और भावगम्यता भी। और साथ ही उसमे एक बड़ा आकर्षण भी रहता है पाठक को अंत तक खींच ले जानेवाला।

हां, एक बात और भी याद रह जानी चाहिये। उन्होंने जिस प्राचीन साये मे खड़े होकर रचना की है उसमें आधुनिक जगत् भी व्यापक रहा है। केवल भूत का शव ही उसमे नहीं है अपितु वर्तमान का निर्माण भी उसमे मिलता है। उनकी 'कामना' मे जिन गूढ़ रहस्यो का उद्घाटन किया गया है वे गंभीर व्याख्या मे जाकर हमारे नेत्र खोलते है।

प्रसाद का चरित्र-चित्रण और चरित्र-निर्माण अपूर्व रहता है। ऊपर हम बता ही चुके हैं कि उनके यहां आदर्श की जो स्थिति रहती है उसमे केवल थोथापन ही नहीं रहता, अपितु उसमे एक सरलता और स्वाभाविकता रहती है। जिन अंतर्वृत्तियों का द्वंद्व उनके यहां चलता है उनके संबध मे प्रत्येक व्यक्ति अपना हृदय टटोलकर देखता है और ऐसा अनुभव करता है कि मानो यह उसी की बात है। और बस यही किसी रचना की सफलता है कि उसे प्रत्येक व्यक्ति अपने निकट की वस्तु समझे।

नाटकों मे गाने अथवा पद्य तो उनके यहां उचित मात्रा मे ही

रहते है परंतु कहीं—कहीं वादो के पचडो मे पड़कर वे कुछ अरुचिकर अवश्य हो जाते हैं। रहस्यवाद, छायावाद, संकेतवाद आदि का वाद-विवाद रंगमंच पर अधिक सफल नही हो सकता। लाक्षणिकता मे भी उनकी रचना कुछ भारी हो जाती है।

प्रसाद जी की रचना व्यंजना-प्रधान रहती है। लाक्षणिकता तक भी वह सरल रह जाती है, परंतु व्यंजकता के फेर में पड़ने से जटिल होकर अपने पाठकों की समझ से दूर की वस्तु हो जाती है। बस इसी लिये हम यह कहकर यह प्रसंग बंद करते हैं कि नाट्य-सम्राट् जयशंकर प्रसाद के यहां अपूर्व आलंकारिकता के साथ लाक्षणिकता भी है और व्यंजकता भी। ध्वन्यात्मकता का आनंद भी उनके यहां अपूर्व है और ओज भी उनके यहा है तथा माधुर्य भी पर्याप्त मात्रा मे है; परंतु यदि नहीं है तो प्रसाद के यहा "प्रसाद" नहीं है। इसी प्रसाद गुण के अभाव मे प्रसाद के नाटको तक जनसाधारण की पहुंच नही हो पाती। परंतु अपनी प्रतिभा, मौलिकता और कल्पना के व्यक्तित्व से उन्होने हिंदी नाटककारों मे जो स्थान बना लिया है वह इतना ऊंचा है कि उसकी तुलना मे खड़ा होने का अवसर अभी शायद दशाब्दियो तक भी किसी को प्राप्त न हो सके।

सेठ गोविंददास

सेठ गोविददास का जन्म संवत् १९५३ मे जबलपुर (मध्यप्रात) के प्रसिद्ध सेठ दीवानबहादुर जीवनदास के घर मे हुआ। इनकी शिक्षा प्रायः घर पर ही हुई। हिंदी के अतिरिक्त अंगरेजी, बगला, गुजराती

मराठी का ज्ञान भी इन्हें अपने निजी अध्ययन से ही प्राप्त हुआ। पैतृक प्रभाव से इन्हें धार्मिकता प्राप्त हुई और सामयिक प्रभाव ने राजनीतिक जीवन। सक्रिय राजनीति में भाग लेने के कारण आप कई बार विदेशी सरकार के मेहमान भी रहे। पीछे आप प्रांतीय धारासभा के सदस्य थे और आजकल केंद्रीय विधान-परिषद् के सदस्य हैं। एक धनी परिवार में उत्पन्न होकर राष्ट्रसेवा करते हुए जेल-जीवन-यापन करना तो कठिन कार्य है ही, साथ ही, सक्रिय राजनीति में भाग लेते हुए साहित्य-निर्माण में प्रवृत्त होना और भी कठिन है। सेठ जी ने इसी कठिन पथ का अनुसरण करके राष्ट्र-भाषा हिंदी की सेवा की है। इसी हिंदी-सेवा में उनका बहुत बड़ा भाग उनकी नाट्य-रचना का है।

सेठ जी की नाट्य-रचना केवल मनबहलाव के लिये नहीं हुई। किसी और स्वार्थ के लिए उन्होंने इसका प्रयोग किया हो, सो भी नहीं। उनके नाटक तो केवल एक उद्देश्य लेकर प्रस्तुत हुए—नाटक-द्वारा भारत के भूत का बखान और उसकी राजनीति का व्याख्यान। दूसरे शब्दों में कह लीजिये कि उनके नाटक रंगमंच के द्वारा राजनीति का बखान करने चले हैं। उनकी राजनीति भी देश की वही राजनीति है जो सत्य, अहिंसा और आदर्श का आधार लेकर आज तक हमारे देश-नेताओं द्वारा प्रचारित की जाती रही है।

सेठ जी के नाटकों का प्रणयन सन् १९३० में आरंभ हुआ। उनके कथनानुसार उनके नाटक आठ-आठ, दस-दस दिन में रचे गये हैं। इतनी शीघ्रता में किसी रचना का प्रस्तुत करना कलाकार की योग्यता और उसके कला-संबंधी-ज्ञान की पूर्णता का परिचायक है। उनके लिखे इतने नाटक हैं—'कर्त्तव्य', 'हर्ष', 'प्रकाश', 'स्पर्धा', 'सेवा-

पथ', 'विकास', 'कुलीनता', और 'शशिगुप्त'। कर्तव्य दो भागों में विभाजित है; पूर्वार्द्ध में रामचरित्र और उत्तरार्द्ध में कृष्णचरित्र वर्णित है। वास्तव मे पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो पृथक्-पृथक् नाटक हैं जिन्हें कर्तव्य-भावना के तल पर लाकर कुशल कलाकार ने एक कर दिया है। यह भी एक कौशल है। कर्तव्य मे मानव की उस कर्तव्य-भावना का विकास दिखाया गया है जिसके बल पर वह मनुष्य के लिये सम्मान-भाजन, श्रद्धेय और पूज्य बन जाता है। कर्तव्य मे राम और कृष्ण के चरित्रों मे से जो विकास राम के चरित्र में आ सका है वह कृष्णचरित्र मे कुछ कम ही बन पड़ा है। वस्तुतः यह कृष्ण का दुर्भाग्य ही रहा है। महाभारत की रचना से लेकर आज तक साहित्य भर में उनके 'योगेश्वर' स्वरूप का बखान करने का कष्ट ही किसी ने नहीं उठाया। कर्तव्य में भी नाटककार अपने सिद्धात-पालन की चिंता मे लीन रहने के कारण कहीं-कहीं कथोपकथन को सफल बनाने मे असमर्थ रह गया है। फिर भी सेठ जी की प्रतिभा का उसमे अपना स्थान स्पष्ट झलकता है।

हर्ष उनका दूसरा नाटक है जिसमें भारतीय इतिहास के उन दिनों का वर्णन है जिन दिनों में भारत अपनी संपन्नता और अपने त्याग के लिये अपने पीछे एक कहानी छोड़ रहा था। कर्तव्य की अपेक्षा इस नाटक में कलाकार अपनी प्रतिभा का परिचय देने मे कहीं अधिक सफल रहा है। और यदि सत्य कहा जाये तो इस प्रकार कहना होगा कि सेठ जी अपनी नाट्यरचना में उत्तरोत्तर विकसित हुए हैं। और उसका प्रमाण यही है कि कर्तव्य की अपेक्षा हर्ष में उनकी कला पुष्ट होती हुई दिखाई पड़ती है। 'हर्ष' के पश्चात् प्रकाश मे आकर उसका और भी विकास हुआ है। स्पर्धा मे तो समझिये कि वे एक

मंजे हुए कलाकार और प्रतिभा-संपन्न नाटककार का रूप लेकर प्रस्तुत हुए है।

हर्ष रंगमंचोपयोगी नाटक बन पड़ा है। हर्ष की रचना नाटककार को प्रसाद के पाये का नाटककार सिद्ध करती है। प्रसाद के नाटकों मे रंगमंच के दृष्टि-कोण का अभाव खटकता है और इस अभाव की पूर्ति हर्ष मे हो जाती है। हर्ष की रचना प्रसाद की प्रतिभा और उनके भाव-सौंदर्य के तल पर खड़े होकर की गई है। उसका रंगमंचोपयोगी होना सेठ जी के महत्त्व का परिचायक है।

प्रकाश हमारे कलाकार का शुद्ध राजनीतिक नाटक है। परंतु हम पहले कह चुके हैं कि हमारी राजनीति मे हमारी सामाजिकता व्याप्त रही है और तभी हमने पश्चिम की भांति राजनीति का नाम लेकर सत्य, अहिंसा और आदर्श को लात नही मार दी। हां, तो हमने कहा कि प्रकाश राजनीतिक नाटक है जिसमें हमारी सामाजिकता भी अच्छी तरह झलकती है। प्रस्तुत नाटक मे नाटककार ने समाज का जो वास्तविक चित्र प्रस्तुत किया है वह उसकी स्पष्टवादिता का सच्चा परिचायक है। भाषा और भावो को संवारने-संभालने की चिंता इस नाटक मे कम ही की गई है, उनकी यह बात भले ही किसी को कितनी भी खटके परंतु इस नाटक में उनका यथार्थवादी स्वरूप जिस रूप मे प्रकट हुआ है उसकी सराहना किये बिना नही रहा जा सकता।

इस नाटक मे जहां चरित्र-चित्रण का स्वाभाविक स्वरूप आकर्षित करता है वहां उसका उच्च कोटि का हास्य भी मन को बरबस खींचता है। संसार क्या है? केवल स्वार्थसाधकों का एक मेला—बस यही प्रकाश का संदेश समझिये।

'स्पर्धा' नाटक मे नारी और नर की पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता और होड़ का चित्रण हुआ है। इसी होड़ अथवा स्पर्धा के कारण नाटक को प्रस्तुत नाम दिया गया है। 'स्पर्धा' मे हमारे नाटककार आज के नवयुवक से कहीं पीछे नहीं रह गये हैं। प्राचीनता के परम पुजारी होते हुए भी आधुनिकता से वे पर्याप्त मात्रा मे प्रभावित रहे है। अपने निज के विचारों मे वे वर्तमान से प्रभावित हुए है, इसे स्पर्धा मे अच्छी तरह देख सकते हैं। प्रस्तुत नाटक मे यह दिखलाया गया है कि यदि आज की नारी पुरुष से होड़ लगाये तो उसकी इस होड़ाहोड़ मे वह अपनी कोमलता को खो बैठेगी। यदि इस राह चलकर उसके पुरुषार्थ से उसमे परुषता उत्पन्न हो गई तो फिर पुरुषों से अपने लिये कोमल भावना की आशा रखना असभव ही होगा। नर और नारी का संबंध भी भारतीय राजनीति मे एक जटिल समस्या है। राजनीतिक क्षेत्र में रहनेवाले एक व्यक्ति के लिये इस प्रश्न का हल करना भी अनिवार्य नही तो आवश्यक तो हो ही जाता है। इस दृष्टि से उनकी यह रचना भी उनके अनुरूप ही हुई है।

सेठ जी के 'स्पर्धा' को छोड़कर शेष सभी नाटक प्रायः पर्याप्त बड़े रहे है। नाटकों का यह बड़ापन रंगमन्चोपयोगी हो सकने मे बाधक ही रहता है। इस दृष्टि से उनके नाटक कुछ आलोचकों की दृष्टि मे उचित नहीं बन पड़े हैं। परंतु यदि कुछ काट-छाट के पश्चात् उन्हे रंगमंच पर लाया जाय तो वे इस दृष्टि से सफल ही सिद्ध होगे। हा, यदि कोई हमारे रंगमंच को चित्रपट से तोलने चले तो यह उसकी बुद्धि का दुर्भाग्य ही होगा।

भाषा, भाव और कल्पना की दृष्टि से सेठ जी के नाटक विकासशील से जान पडेगे। कथोपकथन और वस्तुविन्यास मे उनके यहा किसी

प्रकार का भड़कीलापन भले ही न हो परंतु उनके कथन एक ठिकाने की वस्तु होते हैं और उनमें एक राजनीतिज्ञ की गंभीरता का दर्शन होता है।

संक्षेपतः, सेठ गोविंददास के नाटक हमारे साहित्य की नाट्य-परंपरा मे एक महत्त्व का स्थान रखते हैं। यदि सेठ जी ने इस क्षेत्र में कहीं मनोयोग से कार्य किया होता तो कला मे उपयोगिता की माग करने-वालों में उनका स्थान सर्वोच्च रहा होता। उनके नाटक इस बात को स्पष्ट करते हैं कि नाटक केवल मनबहलाव की वस्तु नही है। उनका भी एक उद्देश्य होता है। उस उद्देश्य की पूर्ति करके ही वे सफल हो जाते हैं। यही कारण है कि सेठ जी उक्ति-वैचित्र्य के कट्टर हामी नहीं रहे हैं।

उदयशंकर भट्ट

आपके पूर्वज गुजरात प्रांत के चाणोद कन्याली मे निवास करते थे, पीछे कभी युक्तप्रांत के बुलंदशहर जिले मे आये और कस्बा कर्णवास के निवासी बन गये। भट्टजी का जन्म संवत् १६५४ मे अपनी ननिहाल इटावा में हुआ। इनकी शिक्षा प्रायः अजमेर, हरद्वार, काशी और लाहौर मे हुई। आप संस्कृत और अंगरेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त करके अध्यापकी पर लग गये। अभी दो-तीन वर्षों से लाहौर के सनातन-धर्म कालेज में हिंदी-अध्यापक के पद पर कार्य कर रहे थे परंतु पाकिस्तान का निर्माण होने पर देहली चले आये और आजकल वही पर जम गये हैं।

भट्टजी बहुमुखी-प्रतिभा-संपन्न सिद्धहस्त लेखक हैं। प्रसिद्ध कवि होने के अतिरिक्त वे एक योग्य नाटककार, एकाकी नाटककार भी हैं, और इधर कुछ दिनों से एक सफल उपन्यासकार भी बनने जा रहे हैं। उनके लिखे नाटक ये हैं:—'विक्रमादित्य', 'दाहर', 'अम्बा', 'सगर-विजय', 'अंतहीन अंत', 'मत्स्यगंधा', 'विश्वामित्र', 'कमला' और 'राधा'। इनमे पिछले तीन की रचना गीति-नाट्य के ढंग पर हुई है।

भट्टजी का जीवन संघर्षों का जीवन रहा है। वे जिन उलट-फेरों मे से निकले हैं उनकी छाप उनकी कृतियों मर स्पष्ट रूप से पड़ी है। इस संघर्षमय जीवन में कभी-कभी भावुकता मनुष्य की सत्यबुद्धि पर बुरी तरह हावी हो जाती है परंतु भट्टजी के यहा भावुकता उनके कवित्व की चेरी बनकर आई है। अपनी सभ्यता और संस्कृति की पूजा उनकी रचना का व्यापक आधार रहा है। जीवन-स्तर को उठाकर ऊँचा बनाने वाली रचना को आप साहित्य मानकर चले हैं। इसी लिये उनके नाटकों में जहां संघर्ष-स्थली प्रस्तुत हुई है वहा उन्होने अपने पात्रो के ज्ञानतंतुओं को विशृंखल हो जाने से रोककर उसे ज्ञानसाम्य और सात्त्विक पथ पर लगाया है।

भट्टजी के नाटक ऐतिहासिक, पौराणिक तथा काल्पनिक है; परंतु अधिक महत्त्व उनके पौराणिक नाटकों का ही है। ऐतिहासिक नाटकों मे 'दाहर' का अच्छा स्थान रहा है। हमारे यहा जिस प्रकार ऐतिहासिक नाटक-रचना मे 'प्रसाद' और 'प्रेमी' ने नाम पाया है, उसी प्रकार पौराणिक नाटक-रचना मे 'भट्ट' जी ने। वस्तुतः पौराणिक सामग्री को जो सुंदर नाटकत्व इनके द्वारा प्राप्त हुआ वह हमारे यहां शायद ही अन्य किसी से बन पड़ा हो।

हमारे नाटककार केवल भूत के ही पुजारी हों सो बात नहीं । वर्तमान की समस्याये भी उनके नाटको मे महत्त्व का स्थान रखती हैं। कमला का किसान-आंदोलन आज की ही एक नई वस्तु है। और अंवा मे जगी भीष्म के प्रति प्रतिकार की भावना मे महिला-आंदोलन का स्वरूप भी तो आज ही की समस्याएं है।

गीति-नाट्य की दृष्टि से हमारे कलाकार का स्थान बहुत ही ऊंचा है। उनके 'मत्स्यगंधा', 'विश्वामित्र' और 'राधा' मे उनका कवि-व्यक्तित्व स्पष्ट हुआ है। गीति-नाट्य में कार्य की अपेक्षा भाव की अधिक अपेक्षा रहती है। दूसरे शब्दों मे कह लीजिये कि यहा पर कलाकार बाह्य-चिंतन की अपेक्षा अंतर की ओर अधिक प्रवृत्त होता है। बाह्य संघर्ष या तो वहा होता ही नहीं, अथवा यदि होता भी है तो केवल आंतरिक संघर्ष को बल देने के लिये ही। इस रूप मे वह साधारण-दृश्य-काव्य से भिन्न की वस्तु हो जाता है। वस्तुतः गीति-नाट्य रूपक का ही एक भेद है। इसमें कलाकार का मानसिक चिंतन और उसकी कविता-कला की प्रधानता रहती है।

'प्रसाद' के 'करुणालय' के पश्चात् भट्टजी के गीति-नाट्यो का एक प्रमुख स्थान है। फिर करुणालय प्रसाद जी का प्रारंभिक ग्रंथ होने के कारण उतना सफल भी नहीं हो पाया है, परंतु भट्ट जी इस दिशा में पूर्णतया सफल रहे हैं। और 'मत्स्यगंधा' तो सचमुच हमारे साहित्य में एक उच्च कोटि का गीति-नाट्य है। 'विश्वामित्र' के संबंध मे हम कह आये है कि उसमे आजकल का नारी-आदोलन मूर्तमान हुआ है। इस रूप में यह रचना प्रतीकात्मकता लेकर चली है। इसमे विश्वामित्र है शक्ति, अभिमान और प्रभुता का रूप मनुष्य; और मेनका है नम्रता, प्रेम, बलिदान और युग-युग से चली आई पराधीन तथा भोग्या सुंदरता

का मूर्तरूप नारी। इनके संघर्ष मे ही नर और नारी का परंपरित संघर्ष प्रकट हुआ है।

'राधा' उनका तीसरा गीति-नाट्य है। इसमे राधा और कृष्ण का पावन-प्रेम वर्णित है। परंतु उसमें परंपरा से चले आये भागवत के वासनात्मक-प्रेम का स्वरूप नहीं है। यहां पर कृष्ण है गीता के व्याख्याता योगेश्वर कृष्ण; और राधा है प्रकृति-स्वरूप ज्ञान के लिये मनन की वस्तु। यह नाटक भी अपने ढंग का अच्छा रहा है।

भट्टजी के शेष नाटको मे 'दाहर' का स्थान बहुत ऊंचा है। इस नाटक द्वारा वे भारतीय सभ्यता और सस्कृति का महत्त्व दिखाने मे पूर्णतया सफल रहे हैं। इसमें भारतीय पुरुष-सिंह का शौर्य और नारी की नैतिक महत्ता का सुंदर चित्रण बन पड़ा है। इनके अतिरिक्त शेष नाटक भी अच्छे रहे हैं परंतु 'विक्रमादित्य' मे कोई विशेषता नहीं दिखाई पड़ती। संभवतया इसी लिये कि वह उनकी प्रथम रचना रही होगी।

भट्ट जी की नाट्य-रचना में उनकी काव्य-प्रतिभा का अपना एक मोल है। उसमे बुद्धि की सजीवता और भावों की गभीरता का समन्वय रहता है। उनके पात्रों मे एक गति है और वे अपना मार्ग स्वयं बनाते चलते हैं। कथोपकथन मे प्राण-संचार की शक्ति है और उसके प्रदर्शन का है एक ध्येय। उसी को दूसरे शब्दो मे सजीवता भी कह सकेंगे।

रंगमच की दृष्टि से भट्ट जी के नाटक 'प्रसाद', सेठ गोविंददास और मिश्र जी के नाटको की अपेक्षा अधिक सफल कहे जा सक्ते हैं। भाषा की दृष्टि से भी वे अपने पाठको तथा दर्शको की दृष्टि मे अच्छा स्थान रखते है। परंतु कुछ दिनो से देख रहे हैं कि भट्ट जी अपनी कविताओं

मे कुछ गंभीर से होते जा रहे है। यत्र-तत्र उनमे प्रतीक तथा छाया-भावना का समन्वय हो जाता है। संभवतया यह हमारी भारतीय आयु का तकाजा है परंतु नाटको मे ऐसा उचित नहीं जंचता। 'अंतहीन अंत' में इस प्रकार की शिकायत पैदा होती है। यह प्रतीक और छाया-भावना नाटक की भाव-व्यंजना मे बाधक हो जाती है। रही आध्यात्मिक भावना की बात, सो तो हम समझते हैं कि वह विरक्तो का पथ है साहित्य के रसिक रचयिताओ का नही। अंत मे हम अपने कथन को यही कहकर समाप्त कर देंगे कि सफल नाटककार उदयशंकर भट्ट के प्रमुख महत्त्व का कारण है उनका गीति-नाट्य-साहित्य। यदि भट्ट जी इस ओर प्रवृत्त न हुए होते तो हमारे गीति-नाट्य-साहित्य का भांडार रिक्तप्राय ही रह गया होता।

गोविंदवल्लभ पंत

पतजी का जन्म अलमोड़ा जिले मे संवत् १९५६ वि० में हुआ। आप आज-कल लखनऊ मे अध्यापन-कार्य करते है। पर्वतीय आकर्षक सौंदर्य ने उन्हें कवि-जीवन की ज्योति प्रदान की। पंतजीने गद्य-क्षेत्र मे भी अच्छा नाम प्राप्त किया। कहानी और नाटक क्षेत्र में उन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हुई।

इनके लिखे नाटकों के नाम हैं :—'वरमाला', 'राजमुकुट', 'अंगूर की बेटी' और 'अंतःपुर का छिद्र'।

'वरमाला' की कथा का मूलाधार मारकँडेय पुराण का एक आख्यान है। सफल कल्पना के साथ इस नाटक का निर्माण बडी निपुणता से किया गया है। नाटककार इस नाटक मे मन की प्रेम-भावना

का सुंदर और आकर्षक चित्रण कर पाया है। प्रेम की व्यापक स्थिति का विश्लेषण इस नाटक मे बडे सुंदर ढंग से हुआ है। संघर्ष की कोमल अभिव्यक्ति, प्रतिभा की शक्ति और काव्य-मार्दव का सम्मिलन, वरमाला मे मूर्तिमान् हो उठे है। इस नाटक मे मूक अभिनय की व्यवस्था बड़े सुंदर ढंग से प्रस्तुत की गई है।

'राजमुकुट' की रचना इतिहास-प्रसिद्ध मेवाड़ की पन्ना धाय के त्याग की गाथा के आधार पर हुई है। यह नाटक रंगमंचोपयोगी बन पड़ा है। नाटक मनोरंजक तथा कलाकार की कला का परिचायक सिद्ध हुआ है।

'अंगूर की बेटी', (जिसका एक अर्थ शराब है) नाम का नाटक सामाजिक अथवा शिक्षात्मक नाटक माना जा सकता है। इसमे उन्होंने शराब की बुराइया दिखलाई है। यह नाटक भी अभिनय योग्य बन पडा है। इसमे कथावस्तु की संबद्धता और चरित्र-चित्रण की सफलता स्पष्ट दीख पड़ेगी।

'अंतःपुर का छिद्र' गीति-नाट्य कहा जा सकता है। इसमे कवि की कोमल गीति-भावना अपना साकार रूप लेकर प्रस्तुत हुई है। नारी की मानसिक गहराई और उसके प्रेम की तात्त्विकता इस नाटक मे अच्छी तरह से ढूंढी जा सकती है।

पंत जी की कोमल कल्पना और प्रगल्भ प्रतिभा उनके नाटकों मे झाकती मिलेंगी। चरित्र-चित्रण की सफलता और वस्तु की संबद्धता उनके यहां सर्वत्र दर्शन देगी। यत्र-तत्र छायावाद का सूक्ष्म विश्लेषण तथा मधुरिमा-सिक्त भाव उनके कवि-स्वरूप का बोध कराते हैं। सूक्ष्म रोमास का अनुभव भी उनके नाटकों मे मिलेगा जिससे उलझकर

प्रेमी मन एक बार नाटककार का उपासक बन जायेगा। उनकी कवि-प्रतिभा मे झाकता हुआ प्रकृति-मोह तो उनके यहा व्यापक रूप मे ही मिलेगा। यह सभी कुछ नाटककार के रंगमंच-संबंधी व्यावहारिक ज्ञान का परिणाम तो है ही, साथ ही उसमे उसकी सच्ची सात्त्विक अनुभूति का प्रभाव भी मानना पड़ेगा।

पंत जी सफल कथाकार है और इस क्षेत्र मे वे अच्छा नाम भी प्राप्त कर चुके है। उनके कथाकार की योग्यता ने उनके नाटकर रूप मे बड़ा भारी सहयोग दिया है। उनके नाटको की सामान्य काया पर उनकी छोटी कहानियों का स्वभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उनके नाटकों मे पात्रों की संख्या के संबध मे भी जिस सयम से काम लिया जाता है वह भी उनके कथाकार का ही प्रभाव जान पड़ता है। कथोपकथन भी सामान्यतः उचित काय लेकर प्रस्तुत हुए है। वे न तो छोटे ही कहे जा सकते है और न बड़े अथवा लबे ही। इस रूप मे हम देखते हैं कि उनके नाटकों मे वह रंगमंचोपयोगिता आ गई है जो सफल नाटककारो के हाथो से प्रायः निकल जाया करती है। आशा है, यदि पंत जी इस क्षेत्र मे अधिक विस्तृत हो सके तो उनका एक निराला स्थान रहेगा।

लक्ष्मीनारायण मिश्र

लक्ष्मी नारायण मिश्र का जन्म सवत् १९६० के लगभग बस्ती जिला आजमगढ़ मे हुआ। आपकी उच्च शिक्षा प्रयाग-विश्वविद्यालय में हुई। आप गद्य-लेखक होने के साथ-साथ खड़ी बोली के अच्छे कवि भी है।

वर्तमान नाट्य-साहित्यकारो में मिश्र जी का अपना एक प्रमुख स्थान है। उनके लिखे सात नाटक प्रकाशित होकर हिंदी जगत् के सामने आ चुके है। 'अशोक' उनका सर्वप्रथम नाटक जान पड़ता है। यह ऐतिहासिक रूपक है। प्रथम रचना होने के कारण यह अधिक सफल नहीं बन पडा है। उनके शेष नाटक है—'संन्यासी', 'राक्षस का मंदिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग', 'आधीरात' और 'सिंदूर की होली'। ये अंतिम शेष छः नाटक समस्या नाटक कहे जा सकते है।

मिश्र जी के नाटको में रंगमंच की इतनी अपेक्षा नहीं की जाती जितनी कि आज-कल के आलोचकों को किसी भी नाटककार से रहती है। परंतु हमारी समझ में आज के युग मे इस बंधन का अधिक भार नाटककार पर डालने की आवश्यकता रह भी कहां गई है? चित्रपट की वैज्ञानिकता ने रंगमंच के लिये स्थान ही कहां छोड़ा है? कुछ थोड़े से धनी व्यक्तियों को छोड़कर रंगमच शेष व्यक्तियो के लिये रह ही कहा गया है? देश की ९९ प्रतिशत जनता रंगमंच के सामने तक जा भी कहा पाती है? उसके लिए है सस्ते से सस्ता मनोवैज्ञानिक आकर्षण लिये चित्रपट। अतः हम समझते हैं कि किसी नाटककार के नाटकों को आज के इस प्रगतिशील युग मे केवल इस आधार पर बुरा बताना कि वे रंगमंचोपयोगी नहीं बन पड़े हैं, उचित नहीं है। देखना तो यह है कि उसमे उसका मूलभूत आधार 'सवाद' कितना बल रखता है! यदि वह जनता को 'अपील' कर सकता है तो मान लीजिये कि वह सफल है, अन्यथा बेकार। सो इस दृष्टि से देखने पर मिश्र जी के नाटक अपने युग की अच्छी वस्तु माने जायंगे।

मिश्र जी के नाटक आज के भारतीय मानव-समाज और उसकी वर्तमान वासना संबंधी स्थिति को लेकर चलते हैं। भारतीय नारी की

चिरंतन समस्या और देश पर लदा हुआ अध्यात्मवाद, ये दोनों वस्तुएं नाटककार के मस्तिष्क को टोंचती हैं। बस, यही व्यापक स्थिति उनके नाटकों का एक प्रमुख विषय बन जाती है। वे निजी बुद्धिवाद से चिरंतन वासना को बगला-भक्तों की भांति फटकार नहीं सके। अनादि काल से चली आती वासना-प्रवृत्ति को क्या कभी भी कोई शक्ति हटा पाई ? यदि नहीं: तो उसे सदा की भांति कोसते रहने का लाभ ?—यही भावना मिश्र जी के नाटको मे काम करती है।

नारी की स्थिति को जितना खुलकर मिश्र जी ने स्पष्ट किया है और जितनी भारी वकालत उन्होंने की हैं उतनी हमारे साहित्य भर में शायद ही किसी ने की हो। केवल उसके सतीत्व और आदर्श की बातें कहकर जगत् भर के धर्म-कर्म का भार वहन करने का उत्तरदायित्व उस पर डालकर पुरुष-भगवान् को स्वच्छंद, खुली-राह उछलने का समर्थन करनेवालो की कमी तो हमारे यहां आज भी नहीं है; परंतु चिरंतन सत्-स्वरूपा वासना के प्रति समान उत्तरदायित्व पालन करने का समर्थन करनेवाले कितने मिलेंगे ? नारी का भी अपना एक हृदय है; उसमें भी एक अनुभूति है। उसे आप कुचल न डालिये—बस, मिश्र जी के नाटक यही अपील करते हैं।

मिश्र जी विवाह को एक 'सामाजिक समझौता' कहते है। उनकी दृष्टि मे उसे धार्मिक बंधन या आध्यात्मिक-बंधन बताना ठीक नहीं जंचता। और, बात है भी ऐसी ही। उनके सभी नाटकों में इसी सिद्धात की गूंज मिलेगी। यह बात दूसरी है कि वे अभी वहां तक पहुंच नहीं गये जहां से हम उनकी नायिका को अधिकारपूर्ण सुखावस्था में पा सकें।

हमारे कलाकार ने इस सांसारिक प्रेम की व्यावहारिकता के चित्रण मे आदर्शवाद का ढोंग रचनेवालों की अच्छी खबर ली है। इलेक्शन, मातृमंदिर (वेश्यासुधार), तथा खद्दर आदि की समस्याएं समाज के उसी ढोंग का पर्दा उठाने के लिये प्रस्तुत की गई हैं जिसकी आड़ मे कपट-संत भोली जनता का शिकार खेलते हैं।

हमने बताया है कि एक 'अशोक' को छोड़कर उनके शेष सभी नाटक नारी-समस्या-प्रधान नाटक है। इस नारी-समस्या मे दो बातें प्रमुख रूप से दिखाई गई है—एक तो सामाजिक रूढ़ियों के कारण नारी पर होनेवाले अत्याचार: दूसरी, आधुनिक स्त्री-शिक्षा और उसका वातावरण। संन्यासी और मुक्ति का रहस्य नारी-समस्या-प्रधान नाटक हैं और सिंदूर की होली, राजयोग, आधीरात तथा राक्षस का मंदिर पूर्णतः नारी-समस्या-मूलक।

कलाकार ने अपने नाटको मे मनोविश्लेषण की शैली अपनाई है और उसमें सफलता भी प्राप्त की है; परंतु भावावेश मे उनके पात्र जहा टूटे-फूटे वाक्यो पर आ जाते है वहा संवाद मे तीखापन आ जाता है। इसमें माधुर्य तो नहीं रहता; परंतु उसमे सत्य की जिस भावना का समावेश होता है उसका मोल भी कुछ कम नहीं होता।

मिश्र जी के नाटकों मे प्रायः अभिजात वर्ग के पात्र रहे है, उनमें दीन-निर्धन वर्ग का समावेश नही हो पाया है। यह बात हमारे कई भाइयों को खटकी है। परंतु यहां वे भूल जाते हैं कि नाटककार जिन समस्याओं का हल करने चला है उनको समझ सकने की

बुद्धि भी क्या निम्नवर्ग की नारी मे आ पायी है? पठित्त और शिक्षित समाज के द्वारा हो सकनेवाले कार्य का भार, किसी ज्ञानहीन और शिक्षाहीन के कंधों पर डालना मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता।

अधिक क्या कहे; उनके नाटक जिस व्यावहारिक प्रेम का आदर्श और प्राचीन सामाजिक-निर्बलता को चित्रित करने के लिये प्रस्तुत हुए है उनमे उन्हे पूर्ण सफलता प्राप्त रही है। हा, यत्र-तत्र प्रातीय प्रयोग तथा लिंग-भेद की अशुद्धिया नाटको की शोभा को हानि पहुंचाती है। साथ ही बुरी तरह से अंगरेजी शब्दो और वाक्यों तक का प्रयोग तो साधारण पाठकों के लिये लेखक की अनुचित चेष्टा ही सिद्ध होगा। फिर भी उनके सफल चित्रण और किसी समस्या को गंभीर बुद्धि से हल करनेवाली योग्यता के सामने ये सब बातें साधारण सी वस्तु रह जाती हैं। संशय और संदेह की स्थिति में पड़े अपने पात्रों को वे किस प्रकार मार्ग देते है; यह भी एक कलाकार का कौशल ही माना जायगा। अतः हम समझते है कि मिश्रजी के नाटकों मे एक असाधारण कलाकार की प्रतिभा का दर्शन मिलता है। और इसी लिये कह सकते है कि इस युग के समस्यात्मक नाटककारो मे उनका स्थान बहुत ऊंचा है। जिस प्रमुख समस्या को लेकर वे जिस संयम बुद्धि से चले हैं वह भी उनके यश का प्रतीक है। इसी मार्ग मे चलते हुए आचार्य चतुरसेन और उग्र जी घासलेटी पार्टी मे फेंक दिये गये, जिसके कारण समुदाय-विशेष की दृष्टि मे उनकी रचनाओ का वह मान नही रह गया जो किसी मान्य कलाकार की रचना को प्राप्त हुआ करता है।

हरिकृष्ण 'प्रेमी'

प्रेमी जी का जन्म संवत् १९६५ में गुना (ग्वालियर) में वहाँ के प्रतिष्ठित सार्वजनिक कार्यकर्ता श्री बालमुकुंद विजयवर्गीय के घर मे हुआ। गुना, मुरार और लश्कर में उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। विद्यार्थी-जीवन मे ही उन्हें कविता का व्यसन लग गया; इसी से उनकी शिक्षा भी अधूरी रह गई। परंतु काव्यक्षेत्र में उन्होंने पूरा नाम कमाया।

शिक्षा-समाप्ति के पश्चात् प्रेमी जी ने अजमेर से प्रकाशित होनेवाली 'त्याग-भूमि' के संपादकीय विभाग में कार्य किया। इसके पश्चात् वे लाहौर चले आये और पाकिस्तान की अत्याचार-कथाएं आरंभ होने तक वहीं रहते रहे। लाहौर में रहते हुए प्रेमी जी ने काव्य तथा नाट्य-क्षेत्र मे अच्छा नाम कमाया।

उनकी पहली ही पुस्तक 'आंखों मे' ने हमारे साहित्यकारों मे अच्छा नाम बना दिया। इसके पश्चात् उनकी और भी कई कविता-पुस्तकें प्रकाशित हुई।

निःसंदेह प्रेमी जी आज के माने हुए कवियों में से हैं; परंतु उनकी अधिक ख्याति उन के नाटकों से ही हुई। 'स्वर्णविहान', 'स्वप्नभंग', 'आहुति', 'रक्षा-बंधन,' 'शिवासाधना', 'प्रतिशोध', 'पाताल-विजय', 'छाया', 'बंधन' तथा 'मंदिर' उनके प्रख्यात नाटक हैं।

स्वर्णविहान गीति-नाट्य है, जो उन्होंने अजमेर मे रहते हुए लिखा था। इसकी उग्र-राष्ट्रीयता के कारण सरकार ने इसे जब्त कर लिया था। वास्तव मे कथोपकथन के सहारे चलनेवाली यह एक पद्य-बद्ध कहानी

है। कथा इस की स्पष्ट है, रचना में गति और प्रवाह है; परंतु नाट्य-तत्त्व की शक्तियों का उसमे अभाव है। फिर भी कवि की कविता के माधुर्य ने उसमे एक आकर्षण उत्पन्न कर दिया है। इसमे उत्कट देश-भक्ति और शृंगार का सुंदर समन्वय हुआ है। गांधीवाद अथवा युग-अहिंसा का उस पर पूरा प्रभाव है।

प्रेमी जी के शेष नाटक भी प्रायः राष्ट्रीय भित्ति पर खड़े हुए है। उनमे से कुछ तो भारतीय इतिहास के उपकरणों पर आधारित हैं और कुछ हैं पुराण तथा कल्पना के आधार पर खड़े हुए। उनके ऐतिहासिक नाटक मध्ययुगीन भारत का आधार ग्रहण करते है। इसमे भारतीय शौर्य, देशाभिमान और स्वातंत्र्य-प्रेम का चित्रण अच्छे ढंग से हुआ है। रक्षाबंधन, स्वप्न-भंग और शिवासाधना मे जिस हिंदू-मुस्लिम-एकता का संदेश दिया गया है वह वर्तमान राजनीतिक प्रभाव का सुंदर उदाहरण कहा जा सकता है। वर्तमान भारतीय राजनीति मे गांधीवाद की सबसे बड़ी देन हिंदू-मुस्लिम-एकता का जितना सफल चित्रण प्रेमी जी के नाटकों मे हो पाया है उतना हमारे शेष साहित्य मे शायद ही कहीं दीख पड़े। इस ऐक्य-भावना के प्रचार मे उनके पात्र एक ऐसे आचरण मे रंगे हुए दिखाई पड़ेंगे जिसे हमारे शब्दो मे आदर्श-वाद कहा जा सकता है।

प्रेमी जी के नाटकों मे रक्षा-बंधन ने अच्छी ख्याति प्राप्त की है। इसमे मेवाड़ की महारानी—स्वर्गीय राणा सांगा की धर्मपत्नी एक संकट आ पड़ने पर तत्कालीन भारत-सम्राट् हुमायूं को राखी भेजकर सहायता की याचना करती है। सम्राट् अपने कट्टर सरदारो और मुल्लाओ के विरोध करने पर भी महारानी की सहायता को पहुँचता है। दुर्भाग्य से सम्राट् को चित्तौड़ पहुंचने में विलंब हो जाता है और महारानी

संकटापन्न अवस्था मे अनेक राजपूत रमणियो के साथ चिताग्नि पर चढकर सती हो जाती है। सम्राट् चित्तौड़ के शत्रु बहादुरशाह को पछाड़-कर महारानी की चिता के निकट जाकर नतमस्तक हो आसू बहाकर चिता की राख मस्तक पर लगाता है। उस समय सम्राट् का, समय पर न पहुँच सकने के कारण, पश्चात्ताप करना कठोर से कठोर व्यक्ति का हृदय द्रवित कर देता है। इस प्रकार अपनी प्रमुख समस्या प्रस्तुत करने मे यह नाटक बहुत सुंदर रहा है।

'पाताल-विजय' उनका पौराणिक नाटक है-जिसमें प्रेम और वीरत्व का—शृंगार और वीर का—अच्छा समन्वय हुआ है। इस नाटक मे प्रेमी जी की शृंगार-भावना और उनके कोमल कवित्व का संगम महत्त्व की वस्तु है।

'बंधन' मे कवि ने अहिंसा-द्वारा हिंसा पर विजय दिखाकर पूर्णरूपेण सिद्ध कर दिया है कि साहित्य अपने समय का सचित्रण होता है। वर्त-मान राजनीति में गाधीवाद तथा उसके साथ-साथ चलनेवाला समाजवाद प्रस्तुत नाटक मे मूलाधार ग्रहण किये हुए है। सत्य, अहिंसा, शाति और असहयोग से अत्याचार और असमानता को हटाकर सुख-शांति तथा साम्यभावना को प्रस्तुत करके नाटककार ने वर्तमान रगमंच को एक सुंदर राजनीतिक भेंट प्रदान की है। यह नाटक रंगमंच की दृष्टि से बहुत सफल रहा है और इसलिये चित्रपट पर भी स्थान प्राप्त कर चुका है। इस नाटक के संबंध में प्रस्तुत पुस्तक के अंत मे कुछ अधिक विस्तार से विचार करेंगे। पाठक उसे अंत में पढ़ सकते हैं।

प्रेमी जी एक प्रसिद्ध कवि भी हैं और सफल गायक भी। अपने गीतों में उनकी प्रतिभा अपना एक व्यक्तित्व रखती है। नाटकों मे आकर

ये गीत एक झंकार उत्पन्न कर जाते हैं। प्रसाद की अपेक्षा उनके गीत अधिक उपयुक्त और संगत जान पड़ते हैं। आज के ऐतिहासिक नाटककारो में प्रसाद के पश्चात् उन्हीं का नाम आता है। वैसे रंगमंच की दृष्टि से प्रेमी जी के नाटक प्रसाद के नाटकों की अपेक्षा अधिक सफल बन पड़े हैं। कथोपकथन की दृष्टि से भी प्रेमी के पात्र प्रसाद की अपेक्षा अधिक सजीव और जाग्रत हैं।

प्रेमी जी की रचना मे प्रयास का अभाव उसके महत्त्व का प्रतीक है। उनके पात्रो मे जिस स्वाभाविक आदर्श का भाव झलकता है उसमे आकर्षण है। सुलझी और मंजी हुई भाषा में बोलते हुए उनके पात्र वास्तविकता का चित्र प्रस्तुत करते है, और उनके समयोचित भावमय गीत उनकी सहृदयता, कोमलता और रसिकता का।

वर्तमान काल के शेष नाटककार

ये शेष नाटककार नाटक-क्षेत्र मे आये सही; परंतु केवल एकागी-शक्ति लेकर। इनमें से ऐसा नाटककार कोई भी नही हुआ जिसने इस क्षेत्र को सर्वथा अपना ही लिया हो। इनमे से कई तो अपने-अपने क्षेत्र के ऐसे कवि-महाकवि हैं जिन्हें उनके क्षेत्र में युगप्रवर्तक की उपाधि प्राप्त हुई, अपनी-अपनी धारा-विशेष का उन्होंने प्रवर्तन किया। गुप्त जी तथा सुमित्रानंदन पंत इसी प्रकार के नाटककार हैं। और भी अन्य ऐसे ही कई प्रसिद्ध कवि—जो कविता-क्षेत्र मे अच्छा नाम पा चुके थे—समय के प्रभाव मे आकर नाटककार बन बैठे। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, मिलिंद, उपेंद्रनाथ 'अश्क', वियोगी हरि इसी प्रकार के नाटककार कहे जा सकते है।

निःसंदेह इनकी काव्यकला ने नाटक-क्षेत्र मे अपनी प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया; परंतु वे अपने क्षेत्र मे इतने दृढ-से हो गये थे कि उसको छोडकर केवल नाटककार बनने की रुचि उनमें उत्पन्न ही न हो सकी।

कहानी, नाटक और उपन्यास मे अनेक तत्त्वो की समानता रहती है। कल्पना और कथानक की दृष्टि से तो वे एक ही श्रेणी मे रहते है। इसलिये इस युग के कई प्रसिद्ध उपन्यासकार तथा कहानी-लेखक भी नाटक-रचना की ओर आकृष्ट हुए। इनमे से उपन्यासकारो का, बात को विस्तृत करके कहने का, स्वभाव उनकी नाट्य-रचना की सफलता मे बाधक रहा। कहानीकार इस दृष्टि से तो सफल रहे परंतु कवि-प्रतिभा का अभाव उनकी सफलता मे भी बाधक ही रहा। नाटक वस्तुतः गद्य और पद्य दोनों के मिश्रण का ही नाम रहता आया है, उसका चपू नाम भी स्पष्ट है ही। इसलिये ये उपन्यासकार तथा कहानीकार भी नाटककार बन सकने की अपेक्षा उपन्यासकार अथवा कहानीकार नाम से ही अधिक प्रसिद्ध रहे। इस प्रकार के नाटककारों में प्रेमचंद, सुदर्शन, विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक', आचार्य चतुरसेन 'शास्त्री', बेचन शर्मा 'उग्र', चंद्रगुप्त 'विद्यालंकार', उपेंद्रनाथ 'अश्क' तथा पृथिवीनाथ शर्मा आदि का नाम लिया जा सकता है। यद्यपि इनमें से कई लेखकों के नाटक बड़े सुंदर और सफल बन पड़े परंतु फिर भी वे या तो उपन्यास-कार के रूप मे ही अधिक प्रसिद्ध रहे या कहानीकार के रूप में। तात्पर्य यह कि वे नाट्य-क्षेत्र को अपना नहीं पाये; नाटक-रचयिता बनने पर भी उन्हें अपने-अपने क्षेत्र-विशेष का मोह दबाये ही रहा। वास्तव मे इस युग मे रंगमंच के आकर्षण ने कुछ न कुछ प्रभाव

सभी प्रसिद्ध साहित्यकारो पर डाला और उसी आकर्षण से इन्होंने नाट्य-साहित्य को कोई न कोई भेट चढ़ा ही दी। और तो और, प्रसिद्ध समालोचक और इतिहासकार मिश्रबंधुओ तक ने नाट्य भांडार को कई नाटक प्रदान किये। इसी प्रकार भाषा-इतिहास तथा समालोचना लेखक बदरीनाथ भट्ट और निबंध तथा समालोचना लेखक प्रसिद्ध हास्यरसाचार्य जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने भी नाट्यरचना मे अच्छा सहयोग दिया। इसी प्रकार हास्यरस के प्रसिद्ध लेखक जी० पी० श्रीवास्तव (गंगाप्रसाद श्रीवास्तव) ने भी कई मौलिक तथा अनुवाद रचनाएं प्रस्तुत कीं। इनके ये नाटक हास्यरस मे हैं और इस रसके एकमात्र नाटक हैं।

हिंदी नाटकों के लिये रंगमंच की स्थापना तो भारतेंदु के समय में ही हो चुकी थी परंतु इस समय आकर कुछ पारसी नाटक-मंडलियों द्वारा उनका और भी विकास हुआ। इन मंडलियो के रंगमंच पर जनसाधारण की समझ मे आ सकनेवाली भाषा का प्रयोग होता था। भले ही इन रंगमंचो से हिंदी नाटको को कोई विशेष लाभ नहीं हो सका परंतु फिर भी कई हिंदी लेखको ने उनके लिये सरल हिंदी में नाटक लिखे। इन लेखको मे आगा 'हश्र', नारायणप्रसाद 'बेताब' और कथावाचक राधेश्याम के नाटक अच्छा नाम पा गये। हश्र और बेताब के नाटको मे तो उर्दू शब्दों की भी खूब भरमार रही।

इस मौलिक नाट्य-रचना के साथ-साथ अन्य भाषाओ से अनुवाद का कार्य भी अच्छा हुआ। संस्कृत नाटकों से अनुवाद करनेवालों में सीताराम 'भूप' तथा सत्यनारायण 'कविरत्न' का उद्योग सराहनीय रहा। रूपनारायण पांडेय ने अनेक बंगला नाटकों का अच्छा अनुवाद किया। प्रसिद्ध अनुवादकर्ता बाबू रामचंद्र वर्मा

ने भी अनेक अंगरेजी तथा बंगला नाटको के सुंदर अनुवाद प्रस्तुत किये। इसी प्रकार डा० लक्ष्मण स्वरूप ने फ्रेंच कवि मोलियर के एक नाटक Le Bourgeois Gentil homme का 'बनिया चला नवाब की चाल' नाम से तथा डा० मंगलदेव शास्त्री ने जर्मन नाटक 'मीना' का इसी नाम से अनुवाद किया। इसी प्रकार लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इब्सन के Dolls House का 'गुडिया के घर' नाम से अच्छा अनुवाद किया।

अब आगे इन शेष नाटककारों तथा उनकी रचनाओं का संक्षिप्त रूप से पृथक्-पृथक् विवरण प्रस्तुत करेंगे जिससे हमें अपने यहा की रूपक-रचना के विकास को समझने मे सहायता प्राप्त हो सके।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

पूर्ण जी कानपुर के रहनेवाले तथा वहा के प्रसिद्ध वकील थे। आप उस समय के प्रसिद्ध स्थानीय राष्ट्रीय कार्यकर्ता थे। धार्मिक विचारों मे आप थियासोफिस्ट थे। वेदात का भी आपको अच्छा ज्ञान था। आप उच्च कोटि के वक्ता भी थे।

बहुत दिनों तक पूर्ण जी के संपादकत्व मे 'रसिक-वाटिका' और 'धर्म-कुसुमाकर' नाम के दो पत्र भी निकलते रहे। पूर्ण जी अपने समय के एक प्रसिद्ध कवि तथा अच्छे गद्य लेखक थे। इन्होंने 'चंद्रकला-भानुकुमार' नामक एक नाटक भी लिखा। इसकी रचना संवत् १९६० के लगभग हुई। इसमें मध्यकालीन राजकुमार तथा राजकुमारियों का चरित्र प्रस्तुत हुआ है। नाटक मौलिक तथा उच्च कोटि का है परंतु बहुत

बड़ा होने के कारण अभिनय योग्य नहीं रह गया है। भाषा की शुद्धता तथा व्रजभाषा-कविता-माधुरी की दृष्टि से यह नाटक अच्छा स्थान रखता है।

हास्यरसाचार्य जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

चतुर्वेदी जी के पूर्वज आगरे के रहनेवाले थे जो कभी व्यापार के लिये बंगाल गये और वहीं के निवासी बन गये। इनका जन्म नदिया जिले के छिटका ग्राम में हुआ।

आप हिंदी तथा अंगरेजी के विद्वान् थे। आप अच्छे पत्र संपादक भी थे। बहुत दिनोंतक बाबू बालमुकुंद गुप्त के संपर्क में रहते रहे इससे उनकी हास्यप्रवृत्ति का इन पर पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा। आपने हिंदी की तन, मन, धन से भारी सेवा की। इसलिये अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के आप लाहौर वाले अधिवेशन के सभापति भी चुने गये। आपकी लिखी लगभग १५-१६ पुस्तकें प्रसिद्ध हैं जिनमें से 'मधुर मिलन' और 'तुलसीदास' नाम के दो नाटक भी हैं। पहले नाटक में हास्य की अच्छी सामग्री प्रस्तुत की गई है। इन नाटकों की रचना संवत् १९८० और ९२ के मध्य में हुई। दोनों नाटक अपने समय की अच्छी रचनाएं हैं। मधुर मिलन का कलकत्ता वाले अखिल-भारतीय-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर अभिनय भी हुआ था जो उस समय बहुत पसंद किया गया था। भाषा और भावों की दृष्टि से इनकी नाट्य-रचना बहुत अच्छी रही है।

मिश्रबंधु

मिश्रबंधुओं का अधिक परिचय देना व्यर्थ होगा। उनकी साहित्य-सेवा से हिंदी-साहित्य का कोई भी विद्यार्थी अपरिचित नहीं है। उनका सबसे बड़ा कार्य प्रसिद्ध कवियों की समालोचना तथा साहित्य के इतिहास के लिये सामग्री प्रस्तुत करने मे बीता है। आप लोगों ने लगभग तीन दर्जन ग्रंथो की रचना की है। इनमे से कुछ संपादित ग्रंथ है, शेष मौलिक रचनाएँ। मौलिक रचनाओ मे उनके चार नाटक भी है। इनके नाम ये हैं :— 'नेत्रोन्मीलन', 'पूर्वभारत', 'उत्तर भारत' और 'शिवाजी'। इनमे से कई नाटक विभिन्न परीक्षाओं के पाठ्य-क्रम में रहे है। प्रथम नाटक सामाजिक है जिसमे मुकदमेबाजी की हानिया दिखलाई गई है। इसकी भाषा प्रायः अदालती ढंग की भाषा हो गई हैं। शेष तीनों नाटक ऐतिहासिक आधार पर रचे गये हैं। इतिहास पर आप लोगों का अधिकार है इसलिये नाटक इस दृष्टि से उपयोगी बन पड़े हैं।

भाषा की प्रांजलता मिश्रबंधुओं का अपना गुण है। किसी भी बात को सुलझाकर कहने की शैली किसी भी कोटि के पाठक के लिए कितनी सुगम होती है, यह स्पष्ट ही है, इसलिये भी ये नाटक अच्छे बन पड़े हैं। संक्षेप में उनके नाटकों के संबंध मे कहा जा सकता है कि उनमे लेखकों के स्वभाव की सरलता और मधुरता व्याप्त है।

बदरीनाथ भट्ट

भट्टजी आगरा-निवासी रामेश्वर भट्ट के पुत्र थे। रामेश्वर भट्ट रामायण के प्रसिद्ध टीकाकार और भाषामर्मज्ञ पंडित थे। पैतृक विद्वत्ता

बदरीनाथ जी में भी आई। आपने बी० ए० तक शिक्षा पाई। तभी से आप पत्र-पत्रिकाओं मे लेख लिखने लगे। कुछ समय तक 'बाल-सखा' और फिर पीछे से 'सुधारक' के संपादक रहे। इसके पश्चात् लखनऊ-विश्वविद्यालय की स्थापना होने पर आप उसमे हिंदी-अध्यापक के पद पर नियुक्त होकर चले गये और अंत समय तक उसी पद पर कार्य करते रहे। आप पत्रकार तथा अध्यापक होने के साथ-साथ सुकवि, हास्य-लेखक तथा नाटककार भी थे।

इनके लिखे ९ नाटक हैं। उनके नाम है :—'कुरुवनदहन', 'चुंगी की उम्मीदवारी', 'चंद्रगुप्त', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'बेन-चरित्र', 'दुर्गावती', 'लवड़धोंधों,' 'विवाह-विज्ञापन' और 'मिस अमेरिकन'। इनमें से दुर्गावती का विशेष नाम है। यह ऐतिहासिक नाटक है परंतु चरित्र-चित्रण तथा कविता की दृष्टि से नाटककार बहुत सफल नहीं हो सका है। कहने को वह रंगमंच के लिये प्रस्तुत किया गया है परंतु ऐसा बन नहीं सका।

चंद्रगुप्त और तुलसीदास भी साधारण कोटि के है। बेनचरित पौराणिक आधार पर रचा गया है और साधारण ढंग का है। कुरुवन-दहन एक प्रकार से वेणीसंहार का छायानुवाद है। इनके शेष नाटक चुंगी की उम्मीदवारी, लबडधोंधों, विवाह-विज्ञापन तथा मिस अमेरिकन साधारण कोटि के हास्य नाटक हैं।

भट्ट जी ने अपने हास्य नाटको की एक अच्छी संख्या तो प्रस्तुत की परंतु उनके हास्य मे कुछ बल नहीं आने पाया। उसमें लखनऊ के भाँडों का प्रभाव दिखाई पडता है। यत्र-तंत्र उसमे अश्लीलता भी आ गई है। इसलिये नाटको की एक अच्छी संख्या प्रस्तुत करके भी

वे उच्च कोटि के नाटककार नहीं बन पा सके। फिर भी उन्हे अपने समय का अच्छा नाटककार कहा जा सकता है।

मैथिलीशरण गुप्त

प्रसिद्ध राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त ने 'चंद्रहास' नामक एक मौलिक नाटक लिखा है। भावानुकूल भाषा और उपयुक्त संवादों से नाटक अच्छा बन पडा है, वैसे इसकी रचना प्राचीन शैली पर हुई है। इसके अतिरिक्त उन्होने बंगला से 'तिलोत्तमा' का और संस्कृत से 'स्वप्नवासवदत्ता' का अनुवाद भी किया है। दोनों ही अनुवाद अच्छे बन पड़े है।

गुप्त जी इस क्षेत्र से प्रायः दूर ही रहे है यह हमारे साहित्य का दुर्भाग्य ही मानना चाहिये। यदि वे जी लगाकर इस क्षेत्र को अपनाते तो निःसंदेह आज हम अत्युत्तम रंगमंचोपयोगी नाटकों के स्वामी होते।

माखनलाल चतुर्वेदी

चतुर्वेदी जी सफल संपादक है। राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं में उनका प्रसिद्ध स्थान है। उनके राष्ट्रीय जीवन की छाप उनकी रचनाओ पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। आपने 'कृष्णार्जुन-युद्ध' नाम का एक नाटक भी लिखा है। इसका कथानक महाभारत से लिया गया है। इसकी रचना शुद्ध साहित्यिक भाषा मे हुई है। कथोपकथन में मार्मिकता और कल्पना मे स्वाभाविकता नाटक की विशेषताएं हैं। इसका सफल अभिनय भी हो चुका है।

रामनरेश त्रिपाठी

त्रिपाठी जी हिंदी गद्य-पद्य के समर्थ लेखक हैं। कविताक्षेत्र में आपकी प्रबंध-रचनाएं अच्छा मान पा चुकी है। इधर पर्याप्त समय लगाकर उन्होंने ग्रामगीतों का भी अच्छा संग्रह किया है।

त्रिपाठी जी आदर्श और राष्ट्रीयता के पक्के उपासक है। उनकी प्रायः सभी रचनाएं इन्हीं आधारो पर प्रस्तुत हुई है। येही बाते उनके लिखे नाटको में भी मिलेंगी। इनके लिखे नाटक ये हैं :—

'सुभद्रा', 'जयंत', 'प्रेमलोक', 'पेखन' और 'वफाती चाचा'। इनमे से जयंत और वफाती चाचा को अच्छा पसंद किया गया। जयंत मे अमीर-गरीब की समस्या का चित्रण है। वफाती चाचा मे हिंदू-मुस्लिम एकता का प्रचार किया गया है। पेखन की रचना बालकों के लिये हुई है।

त्रिपाठी जी की भाषा बडी सरल और स्वाभाविक होती है। चलते उर्दू शब्दों का व्यवहार भी उनके यहा बडे अच्छे ढंग से होता है।

प्रेमचंद

इस युग मे नाटक का आकर्षण इतना बलवान् रहा कि इस युग के प्रायः सभी प्रसिद्ध गद्य-लेखक उसकी ओर खिंच आये। बाबू प्रेमचंद भी इसी झोंक मे आकर नाटककार बन गये। वस्तुतः वे उपन्यासकार थे। कहनिया भी उन्होंने लिखी और लगभग तीन सौ के लिखी, परंतु उनमें भी उनके उपन्यासपन का प्रभाव बराबर रहा। उनका

उपन्यासकार इन कहानियो के कथानक को विस्तृत हो जाने से रोक ही न सका। इन कहानियों का स्थूल शरीर देख कर उन्हे कहानी कहने मे झिझक ही होती है। इस प्रकार की बात उनके नाटको पर भी घटती है। उनके लिखे तीन नाटक हैं :–'संग्राम' 'कर्बला', और 'प्रेम की वेदी'

तीनो ही नाटक ऐसे स्थूलकाय बन पड़े है कि उनका उपयोग केवल पढने के लिये ही हो सकता है। इनके कथोपकथन भी आवश्यकता से अधिक विस्तृत हो गये है। यदि इन नाटको में यह स्थूलता न आ गई होती तो बाबू प्रेमचंद एक सफल नाटककार भी माने गये होते।

कर्बला, हजरत मुहम्मद की मत्यु के उपरांत खलीफा के पद की प्राप्ति के लिये हुए संघर्षों के आधार पर रचा गया है। प्रेमचंद इस नाटक मे आदर्श और आत्मत्याग का चित्र प्रस्तुत करने मे पूर्णतया सफल रहे है। कई स्थानो पर करुणा का सुंदर स्वरूप अत्यंत मनोहर ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

संग्राम भी ढाई सौ पृष्ठों से अधिक का स्थूलकाय नाटक है। इसमें प्रेमचद जी उसी गरीब किसान की समस्या को लेकर आये हैं जो कि प्रायः उनके उपन्यासो में चली है। ग्राम्य समस्या को प्रेमचंद ने जिस निकटता से देखा उस निकटता से हमारा कोई भी साहित्यकार शायद ही देख सका हो। इस दृष्टि से यह नाटक पाठ्य-सामग्री में अच्छा स्थान रखता है। इसी प्रकार प्रेम की वेदी भी एक आदर्श रचना है जिसमे नाटककार ने अपने पात्रों को अच्छा रूप दिया है।

इन मौलिक नाटको के अतिरिक्त उन्होंने अंगरेजी से भी कई नाटकों का अनुवाद किया। इन अनुवादों के नाम है:–'न्याय', 'हड़ताल' और

'चांदी की डिबिया'। ये क्रमशः जस्टिस, स्ट्राइक और सिलवर बॉक्स नाम के नाटकों के अनुवाद हैं।

प्रेमचद हमारे यहा उर्दू क्षेत्र से आये थे, इसलिये उनकी भाषा पर वहाँ का प्रभाव बराबर बना रहा। यहा तक कि कही-कही तो वाक्य विन्यास भी उसी प्रकार का हो गया है। फिर भी उनकी भाषा मे प्रवाह और गति का अच्छा स्थान है।

सुदर्शन

सुदर्शन भी हमारे यहा उर्दू-क्षेत्र से आये और कहानीकार के रूप मे अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त की। उनकी कहानियों के संबंध मे प्रसिद्ध है कि उनमें कोई न कोई शिक्षा अवश्य रहती है। यही बात उनके नाटकों के संबंध मे भी कही जा सकती है। संक्षिप्ततः वे आदर्शवादी है। 'दयानंद', 'अंजना', 'आनरेरी मैजिस्ट्रेट' और 'भाग्यचक्र' उनके लिखे चार नाटक हैं। पहला स्वामी दयानंद के जीवन को लेकर लिखा गया है। दूसरा पौराणिक है, तीसरा एक प्रहसन और चौथा काल्पनिक रचना है। भाग्यचक्र चित्रपट पर भी आ चुका है।

भाषा और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से ये नाटक साधारणतया अच्छे बन पड़े हैं।

सुदर्शन ने एकांकी भी लिखे है और इन एकांकियों मे उन्हें नाटक-रचना की अपेक्षा सफलता भी कहीं अधिक मिली है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री

अपनी गद्यशैली के लिये प्रसिद्ध चतुर्मुखी प्रतिभा-संपन्न आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने विभिन्न विषयो पर लगभग ६० पुस्तके लिखी हैं। इनमे से उनके चार नाटक भी हैं—'अमर राठौर', 'उत्सर्ग', 'सीताराम' और 'श्रीराम'। पहले दो नाटक मध्यकालीन भारतीय इतिहास के आधार पर लिखे गये है। कई स्थानो पर ऐतिहासिक घटनाओ मे विपर्यय कर देने से दूषित से हो गये हैं। ऐतिहासिक नाटको मे कोई मूल परिवर्तन उचित नहीं होता। फिर भी उनकी ये श्रमसाध्य रचनाएं अच्छी ही रही हैं। शेष दो नाटक भी साधारण कोटि के हैं। वस्तुतः आचार्य जी कहानी-रचना मे जो स्थान पा गये वह अन्यत्र दुर्लभ ही रहा। नाटको मे आकर उनकी भाषा मे भी बडा अंतर दिखाई देने लगता है। कहीं-कहीं, तो उनकी लौह लेखनी इतनी शिथिल सी पड जाती है कि उनके चरित्र-चित्रण पात्रो के ब्यौरे मात्र से दीख पड़ने लगते है। फिर भी यदि वे मनोयोग से इस क्षेत्र को अपना सकते तो उनकी सफलता मे कोई संदेह नहीं रहता।

बेचन शर्मा 'उग्र'

उग्रजी समाज की कुटिल करतूतों का नग्न चित्र खींचने, लिखने के लिये प्रसिद्ध रहे हैं। इस स्पष्टोक्ति ने उन्हे आदर्शवादियों की दृष्टि मे कुछ गिरा दिया। आदर्शवादियो ने उनकी इस प्रवृत्ति की कुछ चिढ़ाने के ढग पर कटु आलोचनाएं कीं जिससे वे इस विषय मे और भी उग्र होते गये। इसीलिये आज उनका यह स्वभाव हो गया कि वे सीधी-सादी

बात को कुछ ऐसे ढंग से कहेंगे कि उसमे कुछ न कुछ चटपटापन आ ही जाय। उन्होंने दर्जनो पुस्तके लिखी हैं जिनमे ५ नाटक भी हैं :— 'महात्मा ईसा', 'चार बेचारे', 'डिक्टेटर', 'गंगा का बेटा' और 'आवारा'। इनमे से ईसा तो उनकी एक आदर्श रचना है। शेष सभी उनके प्रसिद्ध नाम के अनुसार ही है। उनके नाटक चरित्र-चित्रण, आदर्श और रंगमंच की दृष्टि से चाहे कैसे ही हों परंतु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि उग्र जी को आदर्शवादियो की अपेक्षा कहीं अधिक ही पाठक मिलते हैं।

भाषा और भावो की दृष्टि से उग्र जी निराले ही है। उनका शब्द-चयन और विषय की संबद्धता प्रशंसा के योग्य है; और यह मानना पड़ेगा कि उसमें अपने पाठक को वश मे करने एक शक्ति रहती है।

जगन्नाथप्रसाद मिलिंद

मिलिंद जी का स्थान आज के कवि-समाज मे बड़े महत्त्व का है। आप उच्च कोटि के साहित्यिक विचारक हैं। साहित्य-सृजन के साथ-साथ उनके जीवन का बहुत बड़ा भाग राष्ट्र-सेवा मे व्यतीत हुआ है। उनकी रचनाएं अभी प्रकाश मे बहुत कम आई हैं; परंतु उनका एक मोल है। और सच तो यह है कि उन्होने बहुत थोडा लिखकर भी बहुत बड़ा नाम पाया है। कविता-क्षेत्र मे वे छायावादी अथवा हृदयवादी तो रहे ही; परंतु उसमें राष्ट्र की पुकार भी कुछ कम नहीं है। उनकी रचनाओं मे भावगरिमा के साथ-साथ उनके स्वभाव की मधुरिमा के समन्वय का भी एक महत्त्व है। कविता का वह मादक राग जो उनकी रचना में मिलता है, उनके नाम को सार्थक सिद्ध करता है।

आपने एक नाटक भी लिखा है। इसका नाम है—'प्रताप-प्रतिज्ञा'। उनकी इस स्वल्प सी रचना ने उन्हें आधुनिक युग के प्रसिद्ध नाटककारो की पंक्ति मे स्थान प्रदान किया है। यह ऐतिहासिक नाटक है जो मेवाड-गौरव महाराणा प्रताप के चरित्र के आधार पर रचा गया है। नाटक नाट्यकला का सुंदर आदर्श है। चरित्र-चित्रण, कल्पना और भाषा तथा कवित्व की दृष्टि से साहित्य मे उसका अपना एक स्थान है। खेद है कि इसके पश्चात् उन्होने हिंदी जगत् को और कोई भेंट नही दी।

चंद्रगुप्त विद्यालंकार

गुरुकुल विश्वविद्यालय के स्नातक चंद्रगुप्त जी कहानी-क्षेत्र में अच्छा स्थान पा चुके हैं। इधर उन्होंने कुछ एकाकी तथा दो-तीन नाटक भी लिखे है। नाट्य-क्षेत्र मे उनके 'अशोक' तथा 'रेवा' ने अच्छी ख्याति प्राप्त की। अच्छे नाटककार के लिये कवि होना भी आवश्यक है, परंतु पं० चंद्रगुप्त इसके अपवाद-स्वरूप हैं। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिये कि उनकी गद्य-रचना में भी कविता से कम प्रभाव नहीं है। कविता की रसात्मकता उसमें व्याप्त रहती है।

उनके 'अशोक' ने तो अच्छा स्थान पाया ही है; परतु 'रेवा' का भी कुछ कम मान नही हुआ। इसका कथानक इतना रोचक और इतना हृदयग्राही वन पड़ा है कि पाठक एक ओर करुणा से आंसू गिराता है तो दूसरी ओर शृंगार-रस-मग्न हो आनंदित हो उठता है। इस नाटक की यदि दो नायिकाएं (रेवा और इंदिरा दोनों) मान ली जाये तो यह वताना कठिन होगा कि यह नाटक दुःखात है या सुखात। कुछ भी सही, नाटक अपने ढंग का अच्छा बन पड़ा है।

प० चंद्रगुप्त की भाषा का प्रवाह और माधुर्य उनकी सफलता के प्रमुख आधार हैं। उनके चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिकता है, भावो में साद्रता और कल्पना मे प्रामाणिकता। इतना सब कुछ होने पर भी उनके नाटक रंगमंच से संबंध रखते नही जान पड़ते।

उपेंद्रनाथ 'अश्क'

प्रेमचद और सुदर्शन की भाति 'अश्क' भी उर्दू से ही आये। धीरे-धीरे उनकी भाषा मे वह परिवर्तन आया कि आज वे हिंदीवालो को पराये से प्रतीत नही होते। पहले वे कहानी-क्षेत्र मे उतरे; इसके पश्चात् नाटक और फिर उपन्यास के क्षेत्र मे पहुँचे।

अश्क के लिखे दो नाटक प्रसिद्ध हैः—'जय पराजय' और 'स्वर्ग की झलक'। पहला नाटक ऐतिहासिक है और दूसरा सामाजिक। जय पराजय उनका प्रथम नाटक है, इसलिये उसके कथोपकथनो में प्रवाह का अभाव रहा है। वैसे चरित्र का विकास करने मे उन्हे अच्छी सफलता मिली है। कल्पना का प्रयोग उनके यहां कवि-प्रतिभा के अनुकूल ही रहा है। स्वर्ग की झलक मे उन्होंने जीवन की वास्तविकता को खोजने का प्रयत्न किया है। स्वर्ग क्या है? दांपत्य सुख-शांति ही स्वर्ग है। यही उन्होंने इस नाटक में दिखाने का प्रयत्न किया है। उनके दोनो ही नाटक थोड़े हेर-फेर से रंगमंचोपयोगी बन सकते हैं।

अश्क जी ने कुछ एकाकी भी लिखे हैं जो उनके नाटकों की अपेक्षा कहीं अधिक सफल रहे है।

पृथिवीनाथ शर्मा

राजकीय सेवा मे रहते हुए शर्मा जी का साहित्य-प्रेम सराहनीय ही माना जायगा। वे पंजाब सिविल सेक्रेटरिएट, लाहौर मे एक अच्छे पद पर कार्य करते थे। नौकरी करते हुए उनका शेष समय अध्ययन तथा लेखन में वीतता रहा है। थोडी सी आयु में उन्होने कहानी-लेखन-कला में अच्छा स्थान प्राप्त कर लिया। इसके पश्चात् नाटक-रचना मे लगे।

शर्मा जी के लिखे तीन नाटक प्रकाशित हुए है :—'दुविधा,' 'अपराधी' और 'शरावी'। दुविधा की अपेक्षा उनके शेष दो नाटक अधिक अच्छे बन पडे है। ये तीनो नाटक साधारणतया छोटे-छोटे हैं इसलिये रंगमंच पर वडी सरलता से आ सकते हैं।

इनके नाटको मे एक नवीनता है कि उनके नायक आदर्श-पात्र न होते हुए भी नाटक के नायक है। प्राचीन नियमानुसार नायक को गुणवान् तथा आदर्शवान् होना चाहिये; परतु उनके नायक शरावी भी हैं और अपराधी भी।

वस्तु-विन्यास, चरित्र-विकास और भाषा की दृष्टि से ये नाटक अच्छे बन पड़े है।

× × ×

इनके अतिरिक्त हमारे यहा और भी कई लेखको ने नाटक-रचना में सहयोग दिया है। वर्तमान युग के व्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि **वियोगी हरि** ने 'प्रबुद्ध यामुन' नाम का अच्छा नाटक लिखा है। इसकी रचना प्रसिद्ध मत-प्रवर्तक आचार्य रामानुज के गुरु यामुनाचार्य की जीवन-कथा को लेकर हुई है। वस्तु-संगठन और चरित्र-विकास की दृष्टि से यह नाटक बहुत अच्छा बन पड़ा है।

इधर पिछले दिनो में लाहौर के निवासी संत गोकुलचंद के भी कई नाटक निकले है। 'सारथी से महारथी', 'चंड प्रतिज्ञा' और 'मीरा' उनके तीन नाटक निकले है। क्रमानुसार उनके नाटको मे उनकी कला के विकास का अध्ययन हो सकता है। ये नाटक ऐतिहासिक है। इन नाटकों में कथोपकथन अवश्य कुछ शिथिल है; परंतु चरित्रों का विकास अच्छा रहा है।

डा० कैलाशनाथ 'भटनागर' ने भी नाट्य-साहित्य का भंडार भरने में अपना सहयोग प्रदान किया है। उनकी नाट्यसुधा के पश्चात् 'कुणाल' और 'श्रीवत्स' के दर्शन हुए। अभी हाल में आपने कालिदास के नाटकों का सरल संक्षिप्त अनुवाद 'कालिदास' नाम से निकाला है।

कविवर **सुमित्रानंदन पंत** ने एक छोटा सा कथानक लेकर 'ज्योत्सना' नामक नाट्य-रूपक रचा है। प्रस्तुत नाटक अपने दार्शनिक उद्देश्य तथा दृश्य-विधान की दृष्टि से तो महत्त्व रखता ही है, साथ ही गीति-माधुरी की दृष्टि से भी आकर्षक बन पडा है। हा, है पठनीय नाटक; रंगमंच से उसका कोई संबंध नहीं।

सुयोग्य समालोचक **प्रो० गौरीशंकर सत्येंद्र** ने 'मुक्ति-यज्ञ' नाम का अच्छा नाटक लिखा है। इसमे छत्रसाल द्वारा बुंदेलखंड की मुक्ति का वर्णन है। नाटक ऐतिहासिक तथा वीर-रस-पूर्ण है। खेद है कि इसके पश्चात् उन्होंने और कोई नाटक नही लिखा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारा रूपक-साहित्य दिनोदिन उन्नति-पथ पर अग्रसर होता गया है। यह दूसरी बात है कि आज के चित्रपट ने हमारी रूपक-रचना का पथ कुछ बदल दिया है। उसकी वैज्ञानिकता ने हमारे नाटकों मे भी एक परिवर्तन पैदा किया है। हा, समय की पुकार ने

वैज्ञानिक युग के समय का मोल सुझाकर बड़े-बड़े नाटकों के स्थान पर छोटे नाटकों—एकांकियों—को प्रोत्साहन अवश्य दिया है; लेकिन है वह भी हमारे रूपक का ही एक भेद। एकांकियो के विकास का वर्णन् हम अगले प्रकरण मे करेगे। इससे पूर्व अपने उन नाटक-लेखकों का भी उल्लेख कर देना चाहते हैं जिन्होंने रूपक-संबंधी साहित्यिक ज्ञान से परे रहते हुए भी अपने नाटकों द्वारा जनसाधारण को अपनी कला से उपकृत किया। इन नाटककारो मे साहित्यिकता का अभाव भले ही रहा हो; परंतु तत्कालीन रंगमंच ने उनके नाटकों को अवश्य अपनाया।

इनके अतिरिक्त उन कलाकारों का भी कम महत्त्व नहीं है जिन्होंने अपने भाषाज्ञान से अन्य अनेक भाषाओं से नाटको का रूपातर करके हिंदी-भाषा-भाषियों को उनका रसास्वादन कराया। इसलिये उनके कार्यों का उल्लेख करना भी आवश्यक होगा।

वर्तमान काल के रंगमंच पर प्रायः चलती भाषा का प्रभाव रहा; क्योंकि उसके दर्शक साधारण कोटि के थे, उनमें कला की सूक्ष्मता परखने की इच्छा नहीं थी। शास्त्रीय दृष्टि से उनका मोल जाचने की योग्यता भी उनमे कमही थी। इधर बीच मे आर्यसमाज के धार्मिक आंदोलन से स्वांगों—नाटकों—के प्रदर्शन के प्रोत्साहन मे बड़ी भारी बाधा पड़ती रही। साधारणतया सभ्य समाज में पुरुष का नारी-वेश में प्रकट होकर दुनिया के बीच में नाचना-गाना घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा। अतः सभ्य समाज इस काल के रंगमंच से दूर ही रहा। हमारे साहित्यिक भी इस सभ्य समाज से संबद्ध थे, इसलिये रंगमंच को इन साहित्यिकों का कोई भी सहयोग प्राप्त न हो सका। उस पर अधिकार जमा लिया व्यवसायियों ने; उन व्यवसायियों ने जिनके साथ था गजलें, टप्पे और कव्वालियां गानेवाला लेखक-मंडल। ऐसे समय में

रंगमंच के लिये ड्रामे पर ड्रामे रचे जाने लगे, वे ड्रामे जिन पर उर्दू का पूरा प्रभाव था। पीछे आकर जब हिंदी नाटकों को मंच पर लाने का आंदोलन आरंभ हुआ तो प्रायः वे ही ड्रामा-लेखक इधर आने लगे। इनकी भाषा पर पहला प्रभाव बराबर बना रहा इसी लिये हम उन्हे उर्दू ढंग के नाटककार कहेगे। आगे संक्षेप मे हम इन्ही का उल्लेख करेंगे।

आगा 'हश्र'

इनका पूरा नाम आगा मुहम्मद 'हश्र' था। ये मूलतः काशमीरी थे, पूर्वज कभी बनारस मे आ बसे थे। इन्होने थियेटर खेलनेवाली विभिन्न कंपनियो के लिये लगभग दो दर्जन नाटक लिखे है; जिनमे आठ हिंदी मे है, शेष सभी उर्दू मे। थियेट्रिकल कंपनियो मे इनके 'गंगावतरण', 'वनदेवी', 'सीता-वनवास', 'मधुर मुरली', 'धर्मी बालक', 'भक्त सूरदास', 'भीष्म-प्रतिज्ञा', 'श्रवणकुमार' आदि हिंदी-नाटको का अच्छा मान रहा। भाषा पर अच्छा प्रभाव रहने से ये नाटक अच्छे ही रहे; परंतु शेर और गजलो की भरमार ने उनकी साहित्यिक महत्ता को अक्षुण्ण न रहने दिया।

नारायणप्रसाद 'बेताब'

नारायणप्रसाद भी कश्मीरी ब्राह्मण थे, ये दिल्ली मे रहते थे। ये गालिब की शिष्य-परंपरा मे थे। इसलिये इनका उर्दू की ओर खिंचना स्वाभाविक ही था। ये बहुत दिनो तक बंबई में रहते रहे। वहा उर्दू-नाट्य-मंडलियो के लिये उर्दू-नाटक लिखे। वहीं से इनका 'शेक्सपियर' भी निकलता था जिसमे शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद भी निकलते रहे।

पीछे आकर इन्होंने हिंदी-नाट्य-रचना आरंभ की। हिंदी में इनका सबसे पहला नाटक 'महाभारत' निकला। इसके पश्चात् 'गोरखधंधा', 'पत्नी प्रताप', 'कृष्ण सुदामा' आदि और भी कई नाटक हिंदी में लिखे। वस्तुतः इन नाटकों की भाषा कहने भर को हिंदी है। यदि इसको हिंदुस्तानी कह लिया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। इनके नाटकों में ओजपूर्ण अंश अच्छे बन पड़े हैं। कविता भी प्रभावपूर्ण तथा भावापन्न रही है।

पं० राधेश्याम

मुरादाबाद-निवासी प्रसिद्ध कथावाचक पं० राधेश्याम का नाम उनकी रची रामायण से हुआ। इसके पश्चात् उन्होंने नाटक-रचना में लग्गा लगाया। उनके नाटकों को सर्वथा उर्दू-नाटक तो नहीं कह सकते, परंतु वे हिंदी नाटक भी नहीं हैं। इनके ऊपर थियेट्रिकल कंपनियों के नाटकों का पर्याप्त प्रभाव रहा है। इसलिये उनके यहा उर्दूवालों का ढंग बरबस आ ही गया है।

उन्होंने लगभग १२ नाटक लिखे है जिनमे 'वीर अभिमन्यु', 'रुक्मिणी-मंगल', 'द्रौपदी-स्वयंवर', 'कृष्णावतार' को अच्छी प्रसिद्धि मिली है। 'मशरिकी हूर' पर, जैसा कि नाम से ही प्रकट है, उर्दू का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा है।

× × × ×

इन लेखकों के अतिरिक्त इस ढंग के नाटककारों में किशनलाल जेवा, लाला नानकचंद नाज, लाला विश्वंभरसहाय 'व्याकुल', पं० माधव शुक्ल, हरिकृष्ण 'जौहर' तथा तुलसीदत्त 'शैदा'

आदि का नाम भी बड़े मान के साथ लिया जा सकता है। इनमें से प्रथम दो तथा 'शैदा' जी पंजाबी थे। पीछे आकर शैदा जी ने पंजाब में हिंदी-भाषा और विशेष कर नागरी-प्रचार के लिये अच्छा प्रयत्न किया। भाषासंबंधी विशेष योग्यता न होने पर भी उनके हिंदी-प्रेम से लोगों ने पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया। स्वयं शैदा जी पर हिंदी का प्रेम इतना हावी हो गया था कि उन्होंने शैदा उपनाम त्यागकर 'स्नेही' नाम धारण कर लिया। उनके लिखे 'नल-दमयंती और 'सूरदास' का रंगमंच पर अच्छा स्थान रहा।

इस प्रकार के नाटक-लेखकों में बाबू **हरिकृष्ण 'जौहर'** का नाम विशेष उल्लेखनीय है। आपने लगभग एक दर्जन नाटकों की रचना की। प्रायः नाटक रंगमंच पर खेले गये और अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त की। भाषा की दृष्टि से उनमें चलतापन तो अवश्य रहा परंतु कला की दृष्टि से उनमें कोई उल्लेखनीय बात नहीं थी। फिर भी साधारण जनता की मनोवृत्ति की तृप्ति के लिये वे अच्छे ही रहे।

विश्वंभरसहाय 'व्याकुल' के 'बुद्धदेव' की भी कुछ दिन अच्छी धूम रही। **पं० माधव शुक्ल** के 'महाभारत' को भी अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त हुई। शुक्ल जी स्वयं एक सफल अभिनेता थे और इसी चक्कर में पड़कर उन्होंने नाट्य-रचना से नाता तोड़ा, नहीं तो आज वे एक अच्छे प्रसिद्ध नाटककार गिने गये होते।

प्रमुख नाटक-अनुवादक

रूपकों के विकास में इन अनुवादकों का महत्त्व भी कम मूल्य नहीं रखता। विभिन्न भाषाओं के भांडार का पूरा विवरण पाकर हमारे कला-

कारो ने अवश्य ही नया पथ पकड़ा होगा। भिन्न-भिन्न भाषाओं के नाटक-कारो मे वह कौन सी महत्ता है, जिसके बल पर साहित्य-संसार मे उन्हें नाम प्राप्त हो सका है?—इसी प्रश्न का हल इन भाषातरकारो के हाथों हुआ। उनके हाथों मे भिन्न-भिन्न भाषा-भाडारो की कुंजिया थी। उन्होंने अपने पाठको को उन भांडारों के सभी प्रमुख रत्नों का दर्शन कराकर उनका मोल-तोल समझा दिया। इन अनुवादो के द्वारा हमारे कलाकारो ने उन मूल-लेखको के गुण ग्रहण करते हुए उनकी भूलों से बचने का उपाय लाभ किया। इस प्रकार और इस दृष्टि से ये अनुवाद केवल मन-बहलाव की वस्तु न रह कर कलाकारों के पथ-प्रदर्शक के रूप मे आहत हुए।

अनुवादक का काम कुछ सहल काम नही है। वह केवल शब्द को शब्द से बदलने का काम करता हो सो बात नहीं। उसका सबसे बड़ा और भारी काम है मूल-लेखक के भावों को सुरक्षित रखते हुए उसके शब्दों को दूसरी भाषा मे बदल देना। गद्य मे यह काम विशेष कठिन नहीं होता; होता तो है, परंतु इतना नही जितना कि पद्य मे। कहते हैं अनुवादक को कल्पना और भावुकता के लिये अपने मस्तिष्क का मोल लगाना नहीं पड़ता; परंतु यह किसी कवि के भाषातरकार कवि से पूछिये। छंद की मात्राओं के बंधनों मे बंधे, अन्य कवि के भावो को पूरी तरह से व्यक्त करने के लिये नियोजित-बुद्धि किसी कवि की कठिनाई को कोई आलोचक-समालोचक क्या समझ सकेगा। फिर उसी रस में उसी गुण और शक्ति का ध्यान रखते हुए मूल रचयिता की आत्मा मे पैठकर नये रूप मे व्यक्त होना—यह कोई सरल काम नहीं। इसी से हमने कहा कि हमारे रूपक-विकास में इनका स्थान भी कुछ कम महत्त्व का नही है।

आगे, इस महत्त्व-पूर्ण कार्य को संपन्न करनेवाले प्रमुख कलाकारों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

सीताराम 'भूप'

लाला सीताराम का जन्म अयोध्या मे संवत् १९१५ मे हुआ। विद्यार्थी जीवन मे हिंदी, संस्कृत, फारसी और अंगरेजी का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। इसके पीछे अरबी, फ्रेंच, बंगला, गुजराती और मराठी का भी अध्ययन किया। शिक्षोपरांत बनारस, फैजाबाद, मेरठ, आगरा आदि अनेक स्थानों पर विभिन्न पदों पर कार्य करते रहे। पीछे आकर प्रयाग में स्थायी रूप से रहने लगे। संवत् १९९४ मे ये पंचत्व को प्राप्त हुए।

लाला जी कवि भी थे और अच्छे गद्य-लेखक भी। कविता मे वे अपना उपनाम 'भूप' रखते थे। भाषा की सरलता के वे पक्के पक्ष-पाती थे। इसी लिये उनकी रचनाएं आडंबर-शून्य रही हैं। उन्होने मौलिक रचना के अतिरिक्त अनेक ग्रंथो का अनुवाद भी किया। इन अनुवाद-ग्रंथो मे उनके संस्कृत और अंगरेजी से अनूदित नाटको का स्थान बड़े महत्त्व का है। इन अनुवादो की भाषा सरल और आडबंर-शून्य है।

उन्होने संस्कृत से भवभूति के 'उत्तर-राम-चरित', 'महावीर-चरित' और 'मालती-माधव' के अनुवाद किये। इनसे भी पहले 'नागानंद' का अनुवाद ये बडी सफलता से कर चुके थे। इनके अति-रिक्त 'मालविकाग्निमित्र' और 'मृच्छकटिक' का अनुवाद भी बड़ी योग्यता से किया।

संस्कृत नाटकों के अतिरिक्त शेक्सपियर के कई अंगरेजी नाटको का अनुवाद भी अच्छी योग्यता से किया।

रूपनारायण पांडेय

पांडेय जी का जन्म संवत् १९४१ में लखनऊ में हुआ। विद्यार्थी जीवन में संस्कृत, अंगरेजी और हिंदी का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। पीछे मराठी, गुजराती, बंगला और उर्दू का भी अध्ययन किया।

साहित्य-जगत् आपको एक कुशल संपादक के रूप में अधिक जानता है, परंतु इसके अतिरिक्त उन्होंने अब तक लगभग ७० ग्रंथों का प्रणयन भी किया है जिनमें से कुछ मौलिक हैं, शेष अनूदित। अनुवाद-ग्रंथों में उनके नाटकों का अच्छा स्थान रहा है। ये अनुवाद बंगला से हुए हैं। कुछ अनूदित नाटकों के नाम ये हैं:—गिरीश बाबू का 'पतिव्रता', क्षीरोदप्रसाद विद्या-विनोद का 'खानजहां', रवि बाबू का 'अचलायतन' और द्विजेंद्रलाल राय के 'उस पार', 'शाहजहां', 'दुर्गादास', 'चंद्रगुप्त' और 'ताराबाई' आदि।

ये अनुवाद अच्छे बन पड़े हैं। उनकी भाषा मूल भावों को व्यक्त करने में सफल रही है और प्रवाह तथा प्रभाव भी उसमें है।

सत्यनारायण 'कविरत्न'

कविरत्न जी का जन्म संवत् १९४१ में हुआ। इनके पिता अलीगढ़ के रहनेवाले थे। बाल्यावस्था में ही माता-पिता का देहांत हो गया। पालनपोषण धाधूपुर (आगरा) के ब्रह्मचारी रघुनाथदास द्वारा हुआ। बचपन तो करुणामय था ही, गृहस्थ भी ऐसा ही बीता, क्योंकि देवी जी सर्वथा विपरीत विचारवाली थीं। इस करुणा ने उनकी वाणी में

स्थान पा लिया। वे अच्छे कवि थे, कविता में उनके यहां करुणा की ही प्रधानता रही।

आपने भवभूति के 'उत्तर-राम-चरित' तथा 'महावीर-चरित' का हिंदी-अनुवाद किया। उत्तर-राम-चरित तो उनकी करुण धारा के सर्वथा अनुकूल रहा ही, महावीर-चरित मे भी उन्हें पूरी-पूरी सफलता प्राप्त हुई। दोनो नाटको मे पद्यो का अनुवाद सुदर, सरस ब्रज-भाषा मे हुआ। इन नाटको के पद्यो मे उस ब्रज-कोकिल का मधुर स्वर जिस मादकता के साथ गूंजा, उसने सिद्ध कर दिया कि सत्यनारायण कोई मौलिक रचना प्रस्तुत कर पाते तो उन्हे अवश्य ही हिंदी का भवभूति कहा जाता। खेद है, थोड़ी सी आयु में ही संवत् १९७५ में उनका देहावसान हो गया।

बाबू रामचंद्र वर्मा

वर्मा जी का जन्म संवत् १९४६ मे काशीधाम मे हुआ। आपके पूर्वज पंजाब प्रांत के अकालगढ, गुजरानवाला के निवासी थे। आपके बाबा बनारस आये और यहीं के हो रहे।

वर्मा जी का स्वअर्जित भाषा-संबंधी ज्ञान बहुत विस्तृत तथा सुलझा हुआ है। आप हिंदी-अंगरेजी के अतिरिक्त उर्दू, फारसी, बंगला, मराठी, और गुजराती का भी समर्थ ज्ञान रखते हैं। आपकी भाषा विशुद्ध, व्याकरण-सम्मत और टकसाली मानी जाती है। आपका, भाषा के संबंध में हाल मे निकला 'अच्छी-हिंदी' नामक ग्रंथ अच्छा मान प्राप्त कर चुका है। आप साहित्य-जगत् मे एक कोषकार के रूप मे भी अच्छा नाम प्राप्त कर चुके हैं।

वर्मा जी के मौलिक, संकलित तथा अनुवादित ग्रंथो की संख्या कुल मिलाकर एक सौ से ऊपर है। उनके अनुवाद-ग्रंथो मे नाटकों का भी एक अच्छा स्थान है। बंगला से आपने द्विजेंद्रलाल राय के 'मेवाड़पतन', 'महाराणा प्रताप' आदि का और गिरीश बाबू के 'वैधव्य कठोर दंड है या शाति' तथा 'प्रफुल्ल' आदि का भावानुवाद किया है। रवि बाबू के 'चाडाली' एकाकी का भी अनुवाद आपने किया है। अंगरेजी से आपने बर्नार्ड शा के 'जोन ऑव आर्क' का अनुवाद किया है और एक अमेरिकन लेखक के 'स्टेप हस्बैंड' का 'मंगनी के मिया' नाम से अच्छा अनुवाद किया है। संस्कृत नाटकों से आपने 'रूपक-रत्नावली' नामक संकलन तैयार किया है!

गंगाप्रसाद श्रीवास्तव

(जी० पी० श्रीवास्तव)

श्रीवास्तव जी का जन्म संवत् १९४८ मे हुआ। आप गोंडा के प्रसिद्ध वकील है। अपने व्यवसाय मे व्यस्त रहते हुए भी आपने जो हास्य-साहित्य प्रस्तुत किया है उसके लिये साहित्य-संसार आपका आभारी रहेगा। यद्यपि आपने अपनी भाषा को हिंदी न कहकर हिंदुस्तानी बतलाया है, परंतु हम उसे भी अपनी भाषा की एक विभाषा समझते हुए उनकी रचनाओं को अपनाने मे संकोच नहीं करेंगे।

हिंदी मे उच्च कोटि के साहित्यिक हास्य का अभी अभाव है। श्रीवास्तव-द्वारा उसकी पूर्ति का प्रथम प्रयत्न समझना चाहिये। इस दृष्टि से उनकी रचनाओं का स्थान अच्छा ही माना जायगा।

आपने फ्रेंच-साहित्य के प्रसिद्ध अभिनेता तथा हास्य-रस के नाटक-लेखक मोलियर के नाटकों का सरल भाषा में अनुवाद किया है। साहित्यिक दृष्टि से इनका मोल कैसा भी हो; परंतु हास्य-रचना की दृष्टि से अच्छा ही मानना चाहिये। इन अनुवादों के अतिरिक्त आपने 'गड़बड़-झाला', 'भूलचूक', 'मरदानी औरत', 'साहित्य का सपूत', 'दुमदार आदमी', 'जैसी करनी वैसी भरनी', 'उलट-फेर', 'नोक झोक' आदि हास्य रस के लगभग एक दर्जन मौलिक नाटक भी लिखे हैं।

× × ×

इन लेखकों के अतिरिक्त और भी कई लेखकों ने विभिन्न भाषाओं से अनुवाद प्रस्तुत किये। पंजाब विश्वविद्यालय के संस्कृत प्रोफेसर **डा० लक्ष्मण स्वरूप** ने फ्रेंच से मोलियर के एक नाटक का 'बनिया चला नवाब की चाल' नाम से अच्छा अनुवाद किया। इसी प्रकार **डा० मंगलदेव शास्त्री** ने जर्मनी के सुप्रसिद्ध नाटककार लेसिंग के 'मिना-फॉ बर्नहाल्म' का 'मिना' नाम से अनुवाद किया। ये दोनों नाटक अनुवादकों के भाषा पर उनके अधिकार को प्रमाणित करते हैं।

जर्मन कवि गेटे के प्रसिद्ध नाटक 'फाउस्ट' का भोलानाथ शर्मा द्वारा अच्छा अनुवाद निकला है।

संस्कृत नाटकों के अनुवाद की परंपरा अभी बराबर चल रही है और अपने ढंग के अच्छे अनुवाद हमारे सामने आ रहे हैं। इनमें से **सत्य-जीवन वर्मा, प्रेमनिधि 'शास्त्री', प्रो० वागीश्वर 'विद्यालंकार'** और **बलदेव 'शास्त्री'** का कार्य भी अच्छे मान का है।

पांचवां प्रकरण

एकांकी

हमारे रूपको मे अंक, वीथी और भाण आदि कई ऐसे भेद हैं जिनमे केवल एक ही अक होता है। अतः यह कहना कि हमारे एकाकी का जन्म पश्चिम की देन हैं, एक अपलाप मात्र है। हा, यह दूसरी बात है कि इस विश्व-बंधुता के प्रचार-युग में कुछ आदान-प्रदान कला की दृष्टि से हुआ है। लेकिन वैसे हमारे एकाकी शुद्ध-स्वदेशी है और ठीक वैसे ही जैसे स्वयं "एकाकी" शब्द।

एकाकी हमारे यहां थे, फिर उनका प्रचार प्राचीन काल मे क्यों नहीं हो सका, यह एक अच्छा प्रश्न है। वस्तुतः आविष्कार आवश्यकता की अपेक्षा रखता है। इसी लिये आवश्यकता को आविष्कार की जननी कहा जाता है। तो बात यह है कि प्राचीन काल में भारत की उर्वरा भूमिमे जहां प्रत्येक वस्तु सुलभता से प्राप्य थी, मनुष्य का जीवन आज की भाति व्यस्त नहीं था और यदि जीवन मे अभाव का कोई झटका लग भी गया तो सब्र और शांति के सामने उसकी कोई विशेष शक्ति नहीं रह जाती थी। संतोषमय जीवन में जिस मस्ती और निश्चिंतता का प्रसार था उसमें अफरा-तफरी को कोई स्थान नहीं था। हमारा साहित्य भी अध्यात्मवाद

का एक अंग था जैसा कि इस बात से स्पष्ट होता है कि विद्या की एक अधिष्ठात्री देवी भी थी जो अब तक सरस्वती नाम से प्रख्यात है। अतः उसके आराधन के लिये जो भी समय लग जाय पुण्य की बात थी। इसलिये विस्तार की बात को संक्षेप मे लाने की आवश्यकता ही नहीं होती थी। इसके अतिरिक्त नाटक हमारा पंचम वेद था। बड़े-बड़े आख्यानो को हटाकर छोटे-छोटे अंकों का प्रचार इस दृष्टि से भी स्तुत्य नहीं था। एकाकी का तात्पर्य तो समय की बचत है। और साहित्य के द्वारा अपने उपास्य देव की आराधना मे समय की बचत उचित और धर्मसंगत मानी नही जा सकती थी। इसलिये साहित्य के विस्तृत स्वरूप के स्थान पर किसी संक्षिप्त संस्करण को स्थान देना बहुत अच्छी बात नही हो सकती थी।

फिर एक बात और! जहा ये नाटक देवाराधन का साधन-उपकरण रहे, वहा आगे चलकर कला की दृष्टि से धनी-मानियों के आनंद के साधन भी बन गये। आनंदोपभोग की सामग्री को विस्तृत करने की अपेक्षा उसे छोटा या संक्षिप्त करना किसे प्रिय लगेगा? रंगमच पर कोई वस्तु जितनी अधिक देर चल जाय उतना ही उससे अधिक आनंद मिलेगा। इसी दृष्टि से बड़े नाटकों का स्थान यथापूर्व बना रहा और 'एकाकी' उनका स्थान न छीन सके। बस, ये ही प्रमुख कारण थे कि एकाकी हमारा अपना होता हुआ भी इतने दिनों तक विकास न पा सका। हा, वैसे यदा-कदा एकाकी लिखे अवश्य जाते रहे तत्कालीन जनता उनका मान-सम्मान भी करती रही, परंतु फिर भी वे अपनी सीमा मे ही रहे, आज की भाति वे बड़े नाटको पर छा नही गये।

हमने बताया कि हमारे यहा संस्कृत-नाट्य-साहित्य मे एकांकी का एक स्थान था। यह अलग बात है कि उस समय उसे कोई प्रोत्साहन नहीं मिल

सका। एकांकी के ढंग के कई ग्रंथ हमारे पुराने नाटकों मे मिलते हैं। शर्मिष्ठा-ययाति, लीलामधुकर, ऊरुभंग और सौगंधिका-हरण आदि उस काल के एकांकियों में अच्छा मान-स्थान रखते हैं। ये नाटक इस बात का प्रमाण हैं कि एकाकी हमने किसी से उधार नहीं लिये; वे हमारे अपने ही हैं।

हिंदी के पुराने एकांकी

हिंदी नाटकों मे भारततेंदु के भारत-दुर्दशा, भारत जननी, अंधेर नगरी आदि कई नाटक ऐसे हैं जो एकाकी ढंग के हैं। वस्तुतः उस समय ये छोटे नाटक हास्य, कौतूहल के विवरण प्रस्तुत करके दर्शकों का मनोरंजन करते थे। कला की दृष्टि से इन पर विचार करना अनुचित ही होगा, क्योंकि यह इनका उद्देश्य ही नही था।

हां, एक बात और भी जान लेने की है। वह यह कि उस समय लेखक इन एकांकियो को रूपक के नाम से पुकारते थे। उदाहरण के रूप में काशीनाथ खत्री ने तीन ऐतिहासिक एकांकी—सिंध-देश की राज कुमारियां, गुन्नौर की रानी और लव जी का स्वप्न—लिखे और उन तीनों का एक संग्रह 'तीन ऐतिहासिक रूपक' नाम से निकला। इस प्रकार पर्याप्त समय तक 'रूपक' शब्द 'एकांकी' का पर्यायवाची बना रहा।

इनके पश्चात् श्रीनिवासदास के 'प्रह्लादचरित' और प्रेमघन के 'प्रयाग रामागमन' की रचना हुई।

राधाचरण गोस्वामी ने आधे दर्जन एकांकी लिखे। इनमें से 'श्री दामा', 'सती चंद्रावती', 'अमरसिंह राठौर', 'तन मन धन श्री गोसाईं जी के अर्पण' का अच्छा स्थान है।

इसी प्रकार प्रतापनारायण का 'कलि–कौतुक' निकला। बाबू राधा-कृष्णदास ने 'दुःखिनी बाला' की रचना की। अंबिकादत्त व्यास ने 'कलियुग और घी' नाम का रूपक लिखा।

इन रूपको के पश्चात् लिखे गये अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'प्रद्युम्न-विजय व्यायोग' को भी अच्छा एकाकी ही कहना चाहिये। इसी प्रकार और भी कई रूपक—एकाकी—लिखे गये जिनका विस्तार-भय से वर्णन करना उचित नही। अब आगे एकाकी का वर्तमान स्वरूप समझाते हुए आज के प्रसिद्ध एकाकीकारो के परिचय प्रस्तुत करेगे। वस्तुतः आज के एकांकी एक ऐसी दिशा की ओर है कि उनके सामने बड़े नाटको का प्रणयन ढीला पड चुका है। दूसरे शब्दों मे यदि यह कहा जाय कि आज के युग में बड़े नाटको का स्थान एकाकी लेते जा रहे हैं, तो अनुचित न होगा। अच्छा हो यदि आधुनिक एकाकी की विशेषताओं और एकाकीकारो के परिचय से पूर्व हम यह जान लें कि ये एकाकी हमारे बड़े नाटकों पर इस प्रकार हावी किस कारण से हो गये।

एकांकी का महत्त्व

एकाकी और बड़े नाटक में वही अंतर है जो एक कहानी और उपन्यास मे। जिस प्रकार हम कहते है कि कहानी एक कलात्मक इकहरे चित्रण का नाम है और उपन्यास बहु-अंगी कलात्मक चित्रण का;-ठीक उसी प्रकार कह सकते हैं कि एकाकी एकांगी है और बड़ा नाटक बहु–अंगी। एकांकी जिस विस्तार में है वह उसका पूर्ण संक्षित स्वरूप है। आज का युग किसी भी संबंध में संक्षेप में ही सोचना और जानना चाहता है। ऐसा क्यो है? वस्तुतः यह विज्ञान का युग है। इसमें मनुष्य के समय

का मोल इतना अधिक हो गया है कि शायद उसके सामने संसार की कोई वस्तु उतनी महंगी नहीं। इस युग का मनुष्य वर्षों के मार्ग को दिनों मे नहीं वरन् घंटों में और हो सके तो मिनटो मे नापने का प्रयत्न करता है। हजारो मनुष्यों द्वारा सधनेवाले कार्य को वह यन्त्र-बल से एक व्यक्ति से कराने के प्रयत्न मे है। हजारो कोसों की घटनाओं को वह ऐसा देखना चाहता है कि मानों उसकी आखो के सामने की बात है। संक्षेप मे कह सकते है कि वह काल और शक्ति पर विजय पाने के प्रयत्न मे है और उसने इस दिशा मे भारी सफलता प्राप्त कर भी ली है। उसकी सफलता का इससे बड़ा प्रमाण भला और क्या होगा कि लाखों-करोडो सैनिकों से वर्षों मे जीते जा सकनेवाले युद्ध को दो दिनो में और केवल दो बमों से सर कर लिया! कहने का तात्पर्य यह है कि विज्ञान के युग मे प्रत्येक वस्तु मे बचत का बड़ा भारी मूल्य है—विशेषतया समय की। यही बात हमारे रूपक-साहित्य के सबंध में भी घटती है।

आज इतना समय किसके पास है कि भूतनाथ, चद्रकाता और उसकी संतति को पढ़ने बैठे? आज का कोई भी उद्योगी व्यक्ति इतने बड़े पोथो के मुकाबले मे किसी छोटी कहानी को अधिक पसंद करेगा। वह कहानी से आनंद लेने की अपेक्षा उपन्यास के बंधन मे पड़ने को कदापि विशेषता नही देगा। बस, यही बात एकाकी के बारे मे समझ लेनी चाहिये। यदि पाठक अपने समय का मोल समझता है तो दर्शक भी तो उसका महत्त्व समझता है। आज रंगशाला मे पांच-सात घंटो का समय लगाने को कोई तैयार नहीं। दिन भर का थका-मादा व्यक्ति एक-दो घंटे से अधिक समय रंगशाला मे लगाने को तैयार नहीं। हम तो देखते हैं कि सिनेमा में भी—जो विज्ञान के सहारे इतना आकर्षण रखता है—यदि उसका खेल लंबा होता है

तो दर्शक बीच मे ही उठकर चले जाते है। इसी लिये सिनेमा के खेल भी दो-ढाई घंटो से अधिक समय के नहीं रखे जाते। हमारे एकांकी भी इसी प्रकार थोड़े समय मे अभिनीत हो जाने की वस्तु है। इसी लिये वे जनता की दृष्टि मे बड़े नाटको की अपेक्षा अधिक चढ़ गये है। समय की बचत के साथ-साथ उनमे पात्र-संख्या तथा अन्य साधनो की भी बचत हो जाती है।

इन सब बातो के अतिरिक्त एकांकी मे गूढ़ गंभीर समस्याओं की अपेक्षा मनोरंजन की सामग्री भी नाटकों की अपेक्षा कहीं अधिक रहती है। इसलिये भी बड़े नाटकों की अपेक्षा एकांकी अधिक महत्त्व प्राप्त कर जाते हैं।

आधुनिक एकांकी की विशेषताएं

आज के एकांकी अन्य प्रकार के नाटको से किन-किन बातो मे भिन्न हैं यह उनकी विशेषताओं से स्पष्ट हो जायगा। ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि उसकी ये विशेषताएं कितनी आकर्षक हैं। इन्हे संक्षेप में इस प्रकार समझिये :—

१. एकाकी का कथानक एकागी, परंतु अत्यंत आकर्षक होता है।

२. सहायक घटनाओ को उसमे कोई स्थान नहीं होता। यदि सहायक घटना आ भी जाय तो उसका अपना अस्तित्व मुख्य घटना में ही लीन हो जाता है।

३. एकाकी में किसी प्रकार की भूमिका की आवश्यकता नहीं होती, वह फौरन् आरंभ हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार बाजीगर

एक दम डमरू और बाँसुरी बजाता हुआ, 'बंभोला' कहकर मुंह से पत्थर के गोले उगल कर आकाश की ओर फेंक देता है। यही एकाकी का सबसे बड़ा आकर्षण है।

४. आरंभ की भाति उसका अत भी आकस्मिक होता है। ऐसा होने से उसमे कौतूहल उत्पन्न हो जाता है जो कि रोचकता उत्पन्न करता है।

५. एकाकी मे कथा विद्युतगति से अग्रसर होती है।

६. कथावस्तु यथाशक्ति छोटी होती है और एक ही बैठक मे वह संपन्न हो जाती है।

७. एकाकी की कथा मे जटिलता नही रहनी चाहिये, क्योंकि उसमें समय और विषय की लाघवता का प्रमुख ध्यान रखना होता है।

८. इसमे कथा-वस्तु संबद्ध होनी चाहिये, उसकी श्रृंखला मे कहीं भी अंतर पडना ठीक नहीं।

९. एकाकी मे 'गागर मे सागर' लाना होता है, अतः उसका कथोपकथन जोरदार होना चाहिये और नपे-तुले शब्दो मे रहना चाहिये। इसी मे लेखक का व्यक्तित्व चमकता है।

१०. रस की अभिव्यक्ति पर लेखक का विशेष ध्यान रहना चाहिये। इस पर उसकी कला का बहुत कुछ निर्भर है।

इन विशेषताओं के अतिरिक्त किसी-किसी के मतानुसार 'संकलनत्रय' का बंधन भी आवश्यक माना गया है; परंतु हम समझते हैं कि एक तो 'स्थल, समय और कार्य की एकता' किसी जीवन के एक युग का चित्रण करने मे वैसे ही भद्दी प्रतीत होती है, फिर वह कठिन भी है।

वैसे भी इस विदेशी सिद्धांत का आदर हमारे यहा पूर्णरूप से कभी नहीं हुआ। युरोप मे रोमेटिको (कल्पित कुतूहलवादियों) ने उसकी कोई पर्वाह नहीं की। स्वयं शेक्सपियर ने उसकी अवहेलना की। और फिर आज के युग मे तो उसकी कोई आवश्यकता भी नही, क्योंकि विज्ञान ने क्या तो समय और क्या स्थान, सभी के अंतर को अत्यंत संक्षिप्त सा कर दिया है। इसलिये हमारी समझ मे यह यूनानी नुस्खा आज के युग मे सिदानयुक्त नहीं जान पडता।

वर्तमान काल के एकांकीकार

इस विभिन्नताप्रिय युग में जहा यह कहा जा रहा है कि Variety is life,—अनेकरूपता ही जीवन है,—वहा हमारे एकाकीकार किस प्रमुख उद्देश्य को लेकर एकाकी-रचना मे प्रवृत्त हुए, यह बताना सरल नहीं। आज तो बड़े नाटको मे भी पुराने ढंग के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक नामो वाला बंटवारा परिमित नहीं रह गया है। हमारी जीवन-समस्याओ की भाति हमारा साहित्य भी कुछ व्यस्त सा हो गया है। ये समस्याएं हमारे एकाकियो मे कितने रंगो मे चमकी हैं उन्हे गिनना कठिन ही है। जिस प्रकार आधुनिक कविता-क्षेत्र मे वादो की बाढ़ आई उसी प्रकार इस युग के प्रत्येक एकांकीकार ने भी अपना-अपना दृष्टिकोण पृथक्-पृथक् ढंग से प्रस्तुत किया। यहां हम इन वादों का विवाद नही खड़ा करेंगे बल्कि एकाकीकारों का परिचयमात्र प्रस्तुत करेंगे। वस्तुतः हॅसी की बात तो यह है कि कभी-कभी एक कलाकार स्वघोषणा-द्वारा स्पष्ट करता है कि वह किसी वाद के चक्कर से संबंध नहीं रखता फिर भी उस बेचारे को उसकी परिधि मे लपेट लिया जाता

है। क्या कहें, जहा एक नये विचार का दृष्टि-कोण प्रस्तुत होता है वहा झट एक नये वाद का जन्म मान लिया जाता है। और देर नही लगती कि उसका अंगरेजी नामकरण भी हो जाता है। अस्तु, हम अधिक उधेड़-बुन मे न पड़कर आगे आज के एकांकीकारों के परिचय देते हुए अपनी नाट्य-परंपरा का विकास प्रस्तुत करेंगे।

हमारे आज के एकांकीकारो मे **डाक्टर रामकुमार वर्मा, उदयशकर भट्ट, सेठ गोविंददास, भुवनेश्वर** और **उपेंद्रनाथ 'अश्क'** का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त और भी कई अच्छे एकाकीकार है जिनका उल्लेख आगे चलकर यथा-स्थान प्रस्तुत करेंगे।

वैसे इस काल मे एकाकी का प्रणयन बहुत पहले से हो चुका था। जयशंकर प्रसाद के 'एक घूंट' की रचना संवत् १९८६ मे हुई। वर्तमान काल की यह सर्वप्रथम सफल एकाकी रचना है। खेद है कि वे इसके पश्चात् एकाकी की ओर से विमुख हो गये। भाषा की दृष्टि से तो समझ लीजिये कि 'प्रसाद' नाम होते हुए उनके यहा 'प्रसाद' गुण तो होता ही नहीं। हमारे वर्तमान एकाकियों का प्रभाव लगभग १० वर्षों के भीतर का है और यह रचना है १८ वर्ष पहले की। इस बीच मे एकाकी-रचना की ओर अधिक आकर्षण दिखाई नहीं देता; अत यह तो स्पष्ट है कि प्रसाद जी की एकाकी-रचना का हमारे आज के एकाकियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि प्रसाद वर्तमान काल के प्रथम प्रमुख लेखक थे।

इसके पश्चात् अब आगे कुछ प्रमुख एकाकीकारों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेंगे।

डा० रामकुमार वर्मा

डॉक्टर रामकुमार वर्मा के अधिक परिचय की कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि कवि, समालोचक और इतिहासकार के रूपमे वे पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त आप आज के प्रसिद्ध एकांकीकार भी है। उनकी कोमल परंतु प्रौढ़-प्रतिभा ने इस क्षेत्र मे उन्हें अच्छा सम्मान प्रदान किया है। इस बात को स्वीकार करने से कोई भी इंकार नहीं करेगा कि नाटक-क्षेत्र मे जो स्थान प्रसाद का है, एकांकी-रचना मे वही स्थान डाक्टर वर्मा का है। इस समानता के अतिरिक्त प्रसाद की अपेक्षा उनकी एक विशेषता भी है। विशेषता यह कि जहां प्रसाद के सभी नाटक अनभिनेय रहे वहा वर्मा जी के सभी एकांकियो का उनकी रचना के साथ-साथ सफल अभिनय भी होता गया है!

वर्मा जी के एकांकियो के तीन संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमे कुल मिलाकर १५ एकांकी रखे गये हैं। संग्रहों के नाम ये है:—

'पृथिवीराज की आँखे', 'रेशमी टाई' और 'चारुमित्रा'।

पृथिवीराज की आंखें मे चंपक, एक्ट्रेस, नहीं का रहस्य, बादल की मृत्यु, दस मिनट और पृथिवीराज की आँखें, ये ६ नाटक है। **'रेशमी टाई'** मे परीक्षा, रूपकी बीमारी, १८ जुलाई की शाम, एक तोले अफीम की कीमत, और रेशमीटाई नामके पांच एकांकी हैं। और **चारुमित्रा** मे है चारुमित्रा, उत्सर्ग, रजनी की रात और अंधकार।

वर्मा जी का सबसे पहला एकांकी कोई १८ वर्ष पूर्व निकला था। तब से लेकर वे बराबर एक नया एकांकी प्रस्तुत करते रहे हैं।

वर्मा जी के नाटक कथानक, कथोपकथन और प्रभाव की दृष्टिसे अपना एक प्रमुख स्थान रखते हैं। वस्तुस्थिति का उनके जैसा सफल चित्रण कम ही एकांकीकार कर पासके होंगे। उनके चरित्र-चित्रण में सफल वैज्ञानिक आकता दिखाई पड़ता है। साधारण सी घटना मे, उनकी कवि-प्रतिभा चित्रकार की तूलिका की भाति वह रंगीनी पैदा कर देती है कि एक-एक वाक्य प्राणप्रतिष्ठ हुआ सा जान पडने लगता है। उनकी एकाकी-कला को देखकर यह मानना पड़ता है कि उनके एकांकियो ने वर्तमान एकांकीकारों का पथ-प्रदर्शन किया है।

उदयशंकर भट्ट

भट्ट जी जैसे प्रसिद्ध नाटककार हैं वैसे ही प्रसिद्ध एकाकीकार भी। उनका सर्वप्रथम एकांकी-संग्रह **'अभिनव एकांकीनाटक'** नाम से संवत् १९९७ के लगभग निकला। इसमे दुर्गा, नेता, उन्नीस सौ पैंतीस, एक ही कब्र में आदि छः नाटक संगृहीत हैं। इस संग्रह के पश्चात् उनका दूसरा संग्रह **'स्त्री का हृदय'** नाम से प्रकाशित हुआ। इसमें जवानी, नकली और असली, दसहजार, बड़े आदमी की मृत्यु, विष की पुड़िया आदि एकाकी संगृहीत हैं। इन दो संग्रहो के अतिरिक्त इधर उनके और भी कई एकाकी निकले हैं जिनसे हमारी एकाकी-रचना को अच्छा प्रोत्साहन मिलने की आशा है।

भट्ट जी एकाकी-साहित्य मे एक नवीन शैली के परिचायक हैं। यदि सच पूछा जाय तो आज के रूपक-साहित्य मे दुःखातता उन्हीं की देन है। अंतरद्वंद्व का सफलतापूर्वक निर्वहण करने मे वे अति पटु हैं। हमारी समझ मे भट्ट जी नाटककार की अपेक्षा एकाकीकार के रूप

में अधिक सफल रहे हैं। ऐसा होने के और भी कई कारण हो सकते हैं; परंतु युगधर्म की प्रेरणा का प्रतिपालन उनमे सर्वोपरि है। आशा-निराशा, हास्य-व्यंग्य, उत्थान और पतन के साथ-साथ वर्तमान जनता की पुकार इन एकांकियों को उस सप्तरंगी धनुष की भाति सजा देती है जिसके सामने उसके गौरव का प्रतीक जाज्ज्वल्यमान सूर्य वर्तमान रहता है।

सेठ गोविंददास

सेठ जी के एकांकियों के पन्ने उनके नाटको के पन्नों की संख्या से कम नहीं होंगे। उनके कुल एकांकी संख्या में ३० हैं और निम्नलिखित संग्रहों में निकले हैं:—

सप्त रश्मि, एकादशी, पंचभूत, और अष्टदल।

इन सग्रहो के कुछ एकांकियों के नाम ये हैं:—धोखेबाज, कंगाल नही, ईद और होली, मैत्री, सच्चीपूजा, भय का भूत, निर्दोष की पूजा, कृष्णाकुमारी, बूढ़े की जीभ, यू नो ?, फांसी और हंगर स्ट्राइक आदि।

इन एकाकियों में ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन व्याप्त है। सेठ जी के नाटकों में आदर्श और यथार्थवाद समानांतर गति से चलते हैं, जिनमें से विजय यथार्थवाद की ही रहती है। इसे चाहे तो उनकी विशेषता कह लें और चाहे समय का प्रभाव।

उनके कुछेक नाटकों के अतिरिक्त शेष सभी कल्पना का आधार लेकर चले हैं। कुछ ऐसे भी हैं जिनमें इतिहास-भूमि को अपनाया गया है, परतु उनमे भी कवि-कल्पना का एक प्रमुख स्थान है। गीत-संगीत का उनके यहां कोई स्थान नहीं है; परंतु उनकी प्रतिभा के वैभव ने इस कमी को ढक दिया है।

उन्होने अपने कुछ नाटकों मे आकाश-भाषित ढंग को अपनाया है। भले ही यह प्रणाली कुछ अस्वाभाविक सी हो; परंतु कौतुहल-सामग्री के रूप मे मनोविनोद की अच्छी वस्तु है। उनका कोई पात्र जब नोटबुक, चश्मे और कलम से बात करता है तो एक कौतुहल सा उत्पन्न हो जाता है। ऐसे नाटक रंगमंच के लिए तो नही; हा, पाठको के मनोविनोद के लिये अच्छा उपकरण बन जाते हैं। वस्तुतः सेठ जी मे लिखने की एक धुन होती है। उस धुन मे वे इसकी कम ही परवाह करते हैं कि कोई क्या कहेगा। खैर, कुछ भी हो यह तो मानना ही पडेगा कि उन्होने एकाकी साहित्य को समृद्ध करने का भारी प्रयत्न किया है। उनके राजनीतिमय पेचीदा जीवन की उलझनो का रंग-बिरंगा स्वरूप उनके एकाकियों में झांक उठा है। जाति और समाज की अव्यवस्था उनके हृदय को मथे डा ने लगती है तो वे उसी का स्वरूप एकाकी के रूप मे प्रस्तुत कर जाते हैं। इस अवस्था मे कलावादी उनकी रचना को किसी और रूप मे न देखकर केवल जीवनोपयोग की दृष्टि से देखे तो अधिक अच्छा हो।

उपेंद्रनाथ 'अश्क'

उपेंद्रनाथ 'अश्क' को नाटको की अपेक्षा एकांकियों में अधिक सफलता मिली है। हमारे साहित्यमें उनके एकाकी अपना विशेष स्थान रखते हैं। उनके जैसा, जीवन के प्रति मार्मिक विद्रोह दिखाने वाला अन्यत्र दुर्लभ ही है। वस्तुतः 'अश्क' जीवन के जिस संघर्ष-पथ मे से गुजरे हैं उसके एक-एक पद की उन पर छाप सी लग गई है। उनका जीवन ही दर्द की कहानी बना रहा है। इतने कष्टों मे भी उनकी

प्रतिभा चमकी ही है। उस दर्द को यह प्रतिभा जिस तूलिका से रंग देती है वह कम गौरव की नहीं ।

इनके लिखे ७ एकाकी देखे है। 'लक्ष्मी का स्वागत', 'पापी', 'विवाह के दिन', 'जोंक', 'समझौता', 'क्रासवर्ड' और 'अधिकार का रक्षक'। इनके अतिरिक्त उनके कुछ एकाकी पत्र-पत्रिकाओ मे भी निकले है। अश्क जी के प्रायः नाटक रंगमंच पर अच्छी तरह खेले जा सकते हे। उनमे दर्शको के लिये आकर्षण और मनोविनोद की पर्याप्त सामग्री रहती है ।

इनके नाटकों मे मानसिक संघर्ष का मनोवैज्ञानिक विश्लेपण रहता है। उनका कथोपकथन प्रभावपूर्ण और सुलझा हुआ होता है। कथा की सबद्धता भी उनके यहां अच्छे ढंग से रहती है ।

उनके यहा करुणा का प्रधान स्थान है, परंतु उनके कई एकाकियों में हास्य भी सुंदर रहा है।

भुवनेश्वर

आज के एकाकीकारों मे पश्चिम से प्रभाव पाने वालों मे भुवनेश्वर का स्थान सर्वोपरि है। क्या भाव और क्या विचार-प्रणाली, सभी पर प्रसिद्ध अंगरेजी नाटककार वर्नार्ड शॉ का पूरा प्रभुत्व रहा है। इसे उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है। इसी प्रकार उन्होंने इब्सन को गुरुवत् माना है।

इनका एक एकाकी-संग्रह निकला है; इसका नाम 'कारवा' है। कारवा मे ६ एकाकी हैं—'श्यामा : एक वैवाहिक विडंबना', 'एक साम्यहीन साम्यवादी', 'शैतान', 'प्रतिभा का विवाह', 'रोमास : रोमाच' और 'लाटरी'।

भुवनेश्वर के एकाकी जीवन की वास्तविकता का नग्नचित्र प्रस्तुत करने मे सकोच नही करते। उनमे पश्चिम की आई वासना मानव-जीवन का सत्य बनकर प्रवेश करती है और हमारे जीवन के आदर्श के आवरण मे छिपे पाखड को उघाड कर रख जाती है। इस प्रकार के नाटक आदर्श के बहकावे को, जीवन के लिये, वासना से अधिक भयंकर रूप मे प्रकट करते हैं। परंतु इस रूप मे वे जीवन की आलोचना करके मानव को कोई रचनात्मक पथ भी दिखा जाते हैं, यह हमे पता नही।

रचना की दृष्टि से उनके एकाकी अच्छे रहे है। उनमें एक स्वाभाविक आकर्षण रहता है। उनकी उक्तिया प्रभाव-संपन्न रहती है। उनमे एक तीखा व्यंग और सुलझा हुआ भाव रहता है। कथा की कल्पना मे उनकी प्रखर प्रतिभा अच्छा कौशल प्रस्तुत करती है और मानसिक तथा बाह्य द्वंद्व जनता के हृदय मे एक प्रभाव छोड़ जाते है।

× × ×

इन एकाकीकारो के अतिरिक्त हमारे और भी अनेक अच्छे एकाकीकार हैं। हरिकृष्ण 'प्रेमी' तथा **बेचन शर्मा** 'उग्र' जैसे अच्छे नाटककार है वैसे ही एकाकीकार भी, परंतु वे इस ओर अधिक झुके नहीं। प्रेमी जी अच्छे एकाकी लिख सकते हैं, परंतु एकाकी की अपेक्षा उनकी रुचि छोटे नाटकों की ओर अधिक होती जा रही है। उनकी यह गति नाटक-क्षेत्र मे श्रेयस्कर रहेगी क्योकि छोटे नाटक अधिक से अधिक रंगमंचोपयोगी हो सकेंगे। प्रेमी जी का एक एकाकी किसी संग्रह मे देखा था, उसका नाम याद नहीं आरहा, परंतु उसकी स्मृति के आधार पर इतना कह सकते हैं कि प्रेमी जी उसमे समय के प्रभाव से प्रेरणा लेकर आये हैं, उसमे हरिजन-समस्या पर विचार किया गया है।

उग्र जी ने एकाकी के नवोत्थान मे अच्छा सहयोग दिया; परंतु उनकी चहुंमुखी प्रतिभा ने उन्हें उस ओर बंधने नहीं दिया। अफजलवध, उजवक, भाई मियां, राम करे सो होय उनके अच्छे एकाकी है। उग्रजी हास्य-विनोद की वातों मे जो पते की बात कह जाते हैं वह उनका अपना निराला गुण है।

सुदर्शन भी नाटककार होने के साथ-साथ अच्छे एकाकीकार है। हमें तो उनके नाटकों की अपेक्षा उनके एकांकी अधिक सफल जान पड़े हैं। एकांकी में उनके कथानक बहुत पुष्ट और प्रभावशाली रहते है। वहा सीधे-सादे शब्दों में जो भावावेश रहता है वही तो उनके एकाकियों का प्राण होता है। उनका 'राजपूत की हार' इस क्षेत्र में अच्छा नाम पा चुका है।

शंभूदयाल सक्सेना का 'वल्कल' नामका एक एकाकी संग्रह देखने मे आया है। इसमे वल्कल, प्रहरी, आतिथ्य और सोने की मूर्ति, ये चार एकांकी हैं। ये चारों एकाकी ऐतिहासिक हैं। इन सभी का संबंध रामायण की कथा से है। यह उनका प्रथम प्रयत्न है; आशा है आगे चलकर उनसे कुछ और एकांकी भी प्राप्त हो सकेंगे।

गणेशप्रसाद द्विवेदी भी अच्छे एकांकीकार हैं। उनके रचे एकांकियों में 'सोहाग-बिंदी' और 'कामरेड' अच्छे सुंदर वन पड़े हैं। इनके अतिरिक्त 'वह फिर आई थी', 'परदे का अपर पार्श्व', 'शर्मा जी' तथा 'दूसरा उपाय ही क्या' और 'सर्वस्व-समर्पण' भी अच्छे एकांकी हैं। इनके एकांकियों मे मानसिक स्थिति का विश्लेषण बड़ी सफलता के साथ प्रस्तुत होता है। कथोपकथन मे संयम की वाणी चरित्रों को उत्थान-गति प्रदान करती चलती है।

सद्‌गुरुशरण अवस्थी—अवस्थी जी एक विचारशील लेखक हैं। उनमें सोचने की गंभीर शक्ति है लेखनी मे संयम का बल है। यही बात उनके एकांकियो मे भी मिलेगी। 'मुद्रिका', 'बालिवध', 'वे दोनो', 'गृहत्याग' आपके अच्छे एकाकी है। एकांकियों में उनकी प्रतिभा ने अच्छा रंग जमाया है; परंतु उनके निबंधों के जैसी जटिल भाषा से उनके एकांकी सर्वसाधारण की योग्यता से दूर की चीज हो गये है। जहां वे भाषा में बाणभट्ट की कादंबरी का अनुसरण कर जाते है वहां चरित्र-चित्रण पर तो प्रभाव पड़ता ही है साथ ही कथागति मे भी बाधा उपस्थित हो जाती है। फिर भी उनमे आधुनिक हास्य-परिहास और मनोविनोद की अच्छी सामग्री रहती है। उनमें सोद्देश्य विवेचन भी उनकी अपनी विशेषता है।

भगवतीचरण वर्मा—वर्मा जी एक सिद्धहस्त कहानी लेखक और प्रसिद्ध उपन्यासकार है। इधर उन्होंने कुछ एकाकी भी लिखे हैं। उनके एकांकी एक गंभीर धारणा लेकर चलते है; परंतु साथ ही उनमे एक सभ्य हास्य भी रहता है। 'संसार का सबसे बड़ा आदमी' और 'दो कलाकार' उनके अच्छे एकाकी है।

इनके अतिरिक्त और भी कई प्रसिद्ध लेखक हैं जो भूले-भटके इधर आये और इस क्षेत्र मे अच्छी देन दे गये। **प्रो० धर्म प्रकाश 'आनंद', वात्सायन 'अज्ञेय', कमलाकांत वर्मा, जगदीश माथुर** एकाकी क्षेत्र मे अपना एक अच्छा स्थान पैदा कर रहे हैं। **प्रो० आनंद** ने 'दीनू', 'सितमगर' और 'प्यास' आदि कई अच्छे एकाकी रचे हैं।

अज्ञेय जी ने 'चित्रकर्मा' आदि की रचना की है। कमलाकात का 'उसपार' अच्छा बन पड़ा है। उनका 'सूर्योदय' तो एकाकी-साहित्य का

अमूल्य रत्न ही कहा जायगा। माथुर जी का 'भोर का तारा' भी इस क्षेत्र की अच्छी वस्तु है।

डा० हरदेव 'बाहरी' आलोचक ही नहीं अपितु एक अच्छे एकाकीकार भी हैं, परंतु उनके 'पुरु' के पश्चात् उनका और कोई भी एकाकी देखने मे नहीं आया।

चंद्रगुप्त 'विद्यालंकार' यद्यपि एकाकी के विरुद्ध हैं; परंतु यह तो उन्हें भी मानना पड़ेगा कि वे स्वयं एक सफल एकांकीकार हैं।

इन लेखकों के अतिरिक्त और भी अनेको एकांकीकार इस क्षेत्र को संपन्न करने मे लगे हैं। आये दिन मासिक पत्रिकाओ मे भी कोई न कोई एकाकी निकलता ही रहता है।

एकांकी का भविष्य

हमारे एकाकी का भविष्य कैसा रहेगा; इस संबंध मे निश्चित रूप से कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। आज का एकाकी बड़े नाटको की प्रतियोगिता मे खड़ा है। विवेचको का कहना है कि बड़े नाटकों का कार्य इन एकाकियों से संपन्न नहीं हो सकता। यह असत्य नही। तो फिर दोनों बराबर चलते रहेगे या इनमे से किसी भी एक को विशेषता प्राप्त होगी? एक मत यह भी है कि एकाकी अधिक आधुनिक वस्तु होने से बडे नाटको पर विशिष्टता प्राप्त कर जायगा। इन दोनो मतों को सामने रखते हुए विचारना है कि बड़े नाटकों के मुकाबले में एकाकी का भविष्य क्या रहेगा? यह हम पहले कह आये हैं कि साहित्य की किसी भी गति-विधि के संबंध मे कोई भविष्यवाणी करना उचित नहीं, परंतु फिर भी इतना स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि

एकाकी का मुकाबला बड़े नाटको से उसी प्रकार का है जिस प्रकार कहानियो का उपन्यासों से, और मुक्तकों का प्रबंधकाव्यों से। निःसंदेह आज के युग मे बडे उपन्यास और प्रबंध-ग्रंथ कम ही रचे जा रहे हैं; परंतु उनका सर्वथा लोप नहीं हो गया। विज्ञान की दुहाई देकर यह अवश्य कहा जाता है कि आज दिन विज्ञान के युग की सबसे बडी माग समय, शक्ति और जन संबंधी बचत की है। आज के युग में बडे-बड़े उपन्यास और महाकाव्य पढने का समय कम ही लोगों के पास है। यह युग समय काटने का नहीं, अपितु समय के सदुपयोग का है। इसीलिये हम देखते है कि उपन्यासकारो की अपेक्षा कहानी लेखकों की संख्या कई गुना अधिक है और अधिक होती जारही है। कवियों की संख्या तो हमारे यहां बहुत बडी है; परंतु उनमें प्रबंधकार कितने हैं; यह बात विचारणीय है। यह सब कुछ ठीक है, फिर भी न तो उपन्यासो का ही लोप हो गया है और न प्रबंध रचनाओं का ही। हा, अपेक्षतया कम अवश्य हैं। इस स्थिति को देख कर यह सरलता से निर्णय किया जा सकता है कि आगे आने वाले समय में एकाकी का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। नाटकों की अपेक्षा उसको अधिक प्रोत्साहन प्राप्त रहेगा। रूपक-साहित्य मे उसका बोलबाला होगा और अन्य बड़े नाटकों को इससे बहुत बड़ा धक्का पहुँचेगा। यदि उनका अस्तित्व बचाये रखने का प्रयत्न किया भी गया तो उनमे आकार संबंधी परिवर्तन लाना अनिवार्य होगा। यह दूसरी बात है कि इस परिवर्तन मे वे एकाकी का रूप ले लें या अपना ही वामनावतार धारण कर जायें।

छठा प्रकरण

अन्य प्रांतीय नाटक

हिंदी का संबंध भारत की अन्य प्रांतीय भाषाओं से भी बहुत गहरा रहा है। हिंदी ने अन्य भाषाओ से आदान-प्रदान का अच्छा संबंध रखा है। रूपक-साहित्य मे भी यह संबंध बड़ा अच्छा चलता रहा है। उनके कई रूपक रूपातरित होकर हमारे यहा आए हैं और हमारे नाटककारो को उन्होंने प्रभावित भी किया है। अतः अपने रूपकों के विकास को अक्षुण्ण रूप मे समझने के लिये इन अन्य प्रातीय नाटको का परिचय प्राप्त करना भी जरूरी है।

भारतीय आर्यकुल की भाषाओ मे हिंदी के अतिरिक्त बंगला, गुजराती और मराठी मे भी साहित्य को अच्छी प्रगति मिली है। इन सभी प्रांतीय भाषाओ में बंगला का साहित्य-भण्डार सबसे अधिक संपन्न रहा है। बंगला के विद्वानों ने नाट्य साहित्य को भी बहुत कुछ दिया है। बंगाल में नाटक-रचना के साथ-साथ रंगमंच को भी अच्छा प्रोत्साहन मिला। रंगमंच का सहयोग मिलजाने से बंगला के नाटक अन्य भाषाओं के नाटकों की अपेक्षा अधिक उपयोगी रहे। उत्तर-भारत की रामलीलाओं की भाति बंगाल में यात्राओं का प्रचलन

बहुत पुराने समय से रहा है। इन यात्राओ में जयदेव-द्वारा गाई हुई राधा-कृष्ण की प्रेमलीलाओ का अभिनय भी चलता था। पीछे आकर उनमे महाप्रभु चैतन्य के चरित्रों की प्रधानता रहने लगी। इस नाट्यविकास मे वहां के 'गीतविनयों' का भी अच्छा सहयोग रहा। ये गीतविनय एक प्रकार के अभिनय होते थे जो कि गीतप्रधान रहते थे और उत्सवों पर अभिनीत होते थे।

भारत मे अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति को प्रसारित करने के लिये सबसे पहले बंग-भूमि का उपयोग हुआ। यह तो हम पहले ही बता आये है कि हमारे यहा अंग्रेजी राज्य की नींव ही देश के पूर्व की ओर से पडनी आरंभ हुई। इसलिये पश्चिमी—अंग्रेजी—भाषा और उसी प्रकार नाट्य-कला का प्रभाव भी पहले वहीं पर पड़ना आरंभ हुआ। सक्षेप से इतना याद रखना चाहिये कि उधर पलासी का पतन होता है—अंगरेजी राज्य की नीव पड़ती है; और इसी के साथ-साथ कलकत्ते मे 'कलकत्ता-थियेटर' नामक एक अंगरेजी थियेटर की नींव पड़ जाती है। यह बात संवत् १८१४ के लगभग की है। इस थियेटर मे अभिनय अंगरेजी ही रहा और धीरे-धीरे इसकी उन्नति होती गई। इसके लगभग १८ वर्ष पश्चात् हिरेसिम लेबडेफ्फ (Herasim Labdeff) नामक रूसी सज्जन ने वहा पर एक देशी रंग-मंच स्थापित कराया जिसमे अंगरेजी के दो नाटकों का अनुवाद कराकर उनके सफल अभिनय प्रस्तुत किये गये।

इन रंगमंचों से संपन्न बंगालियों का ध्यान रंगमच की ओर आकर्षित हुआ। बड़े उत्साह के साथ नाटक मंडलिया स्थापित होने लगीं। जिनमे बंगला नाटको का अभिनय किया जाने लगा। इन स्वतंत्र बंगला नाटकों की परंपरा का विकास पलासी-पतन से ठीक सौ वर्ष पश्चात् अथवा भारतीय महान् विप्लव के समय के लगभग मानना

चाहिये । इन अभिनीत नाटकों मे 'विद्यासुंदर', 'कुलीनकुलसर्वस्व' और 'रत्नावली' (संस्कृत से अनूदित) का प्रमुख स्थान रहा। **रामनारायण** 'तर्करत्न' इस समय के अच्छे बंगला-नाटककार थे। कुलीन-कुलसर्वस्व उन्हीं की कृति थी । यह संवत् १९१४ के लगभग का समय था। यही से बंगला के मौलिक नाटकों का आरंभ समझना चाहिये ।

इसके पश्चात् बंगला ने कई अच्छे नाटककार दिये । बंगला के इन प्रसिद्ध नाटककारो मे **माइकेल मधुसूदन दत्त, गिरीशचंद्र घोष, द्विजेंद्रलाल राय** और **रवींद्रनाथ ठाकुर** का नाम बडे महत्त्व का है। बंगाली विद्वानों का एक बडा भारी गुण यह रहा है कि वे अन्य विदेशी भाषा के महान् ज्ञाता होते हुए भी अपनी मातृभाषा के परम भक्त रहे है। माइकेल, घोष, राय और ठाकुर अंगरेजी भाषा के समर्थ-ज्ञाता थे और माइकेल तथा ठाकुर तो अंगरेजी की विद्वत्ता के द्वारा पश्चिमी देशो मे बड़ी भारी ख्याति भी प्राप्त चुके थे, परंतु इस ख्याति के मद मे उन्होने बंगला को भुला नही दिया ।

माइकेल मधुसूदन दत्त युरोप के कई शिक्षाकेंद्रो मे शिक्षा पा चुके थे, उन्हे युरोप की कई भाषाओ का समर्थ ज्ञान प्राप्त था । फिर भी उन्होंने बंगला मे 'शर्मिष्ठा', 'पद्मावती', 'कृष्णाकुमारी' आदि नाटकों की रचना करके अपनी मातृभाषा को महत्त्व प्रदान किया ।

गिरीशचंद्र घोष भी बंगला के प्रसिद्ध नाटककार हुए। 'बलिदान', 'बिल्वमंगल', 'हरिश्चंद्र', शिवाजी' तथा 'पाडव-गौरव' आदि उनके प्रसिद्ध नाटक हैं। नाटक-रचना के अतिरिक्त उन्होंने एक काम और भी बड़े महत्त्व का किया। उन्होंने व्यक्तिगत नाटक मंडलियों का, जो कि निजी धंधे की वस्तु बन गई थीं, भारी विरोध किया और सार्वजनिक रंगमंच की स्थापना की। यह रंगमंच संवत् १९२९ के लगभग जातीय

नाट्य-गृह के नाम से स्थापित हुआ। इस रंगमंच के द्वारा बंगला नाटको और नाटककारो को अच्छा प्रोत्साहन मिला। जनता ने उन्हे इस रंगमंच की सफलता के लिये पूरा-पूरा सहयोग दिया। उनके नाटक ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक ढंग के रहे। तत्कालीन जनता ने उन्हें बड़े प्रेम से अपनाया।

इस समय के बंगला सामाजिक नाटकों मे दहेज के कुप्रभाव का अच्छा विवेचन प्रस्तुत किया गया है; साथ ही अंगरेजी फैशन तथा शिष्टाचार और प्राचीन बाह्याडंबर की भी अच्छी हंसी उड़ाई गई है।

द्विजेंद्रलाल राय बंगला नाटको मे एक नवीन क्राति लेकर प्रस्तुत हुए। उन्होने लगभग एक कोडी नाटको की रचना की। उन्होंने ऐतिहासिक और सामाजिक नाटक लिखे। साथ ही गीति नाट्यो और प्रहसनो की भी अच्छी रचना की।

रायजी की अधिक प्रसिद्धि उनके ऐतिहासिक नाटकों से हुई, जिनमे से प्रसिद्ध नाम ये हैं :—मेवाडपतन, दुर्गादास, चंद्रगुप्त, राणा प्रतापसिंह, सिंहल-विजय, शाहजहां, सीता और सुहराब-रुस्तम।

इन नाटकों में रायजी की इतिहास-संपन्न बुद्धि के साथ उनका कल्पना-वैभव भी प्रस्तुत हुआ है। उनके नाटकों में स्वदेश-प्रेम और बाह्याडंबर का विरोध स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। परंतु उनके स्वदेश-प्रेम मे मानव मात्र के लिये समान सहानुभूति का एक प्रमुख स्थान है।

रायजी ने 'पुनर्जन्म', 'बहुत अच्छा', 'कल्कि अवतार', 'आनंदविदाय', 'एक छरे' और 'त्र्यहस्पर्श' नाम के प्रहसन भी लिखे है। इन नाटकों मे गंभीर और साहित्यिक हास्य का अच्छा स्थान है।

रायजी नाट्य-कला के परम पारखी थे। रंगमंच की कठिनाइयों का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। इसलिये उन्होंने जिस कौशल से नाट्य-रचना की उससे उनके नाटकों को रंगमच पर अच्छा स्थान मिला।

उनकी नाट्य-कला को समझने के लिये पुस्तक के अंत में उनके रचे चंद्रगुप्त पर विचार करेंगे। उससे इस क्षेत्र मे उनके व्यक्तित्व का परिचय मिल जायगा।

कवि-सम्राट् रवींद्रनाथ ठाकुर ने बंगला को जहां गल्प, उपन्यास और कविता का दान दिया, वहा उसे नाट्य-रचना भी प्रदान की। श्री ठाकुर अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से विश्व के साहित्य में बंगला को अमर कर गये। उनकी यह प्रतिभा उनकी कविता मे चमकी और उनके कवित्व से ही पनपे रहे उनके नाटक। इसके साथ-साथ वे एक कुशल कलाकार और योग्य अभिनेता भी थे। इसलिये उनके नाटकों का मोल सरलता से समझ मे आ सकता है।

ठाकुर के नाटक भाव-प्रधान हैं। संगीत का उनमे विशेष स्थान है। चिंतन और भावुकता के साथ-साथ उनमे एक सांकेतिकता भी रहती है जो उनके कवि-रूप का विशेष प्रतिनिधित्व करती है।

उनके लिखे नाटकों के नाम ये हैं :—'चित्रांगदा', 'राजर्षि', 'डाकघर', 'विसर्जन', 'व्यंग्य-कौतुक', 'मुक्तधारा', 'राजा-रानी', 'चिरकुमार-सभा' और 'नटी की पूजा'।

× × ×

नाटकों का स्थान मराठी मे भी अच्छा है; परंतु उतना ऊंचा नहीं जितना कि होना चाहिये था। महाराष्ट्र में संगीत का अच्छा प्रचार रहा है और रंगमंच से संगीत का गहरा संबंध भी है; परंतु फिर भी

वहा नाटकों का उतना प्रचार नहीं हो सका जितना बंगला नाटको का बंगाल मे हुआ। हा, मराठी मे उच्च कोटि के साहित्यिक नाटककार अधिक नही हुए; परंतु फिर भी रंगमंच का बड़ा अच्छा विकास हुआ।

मराठी रंगमंच के विकास का बहुत बड़ा श्रेय **विष्णु पंत भवे** को प्राप्त है। भवे ने सांगली-नरेश की प्रेरणा तथा सहायता से एक अच्छी मंडली का आयोजन करके मराठी रंगमंच को शक्ति प्रदान की और कई अच्छे नाटक भी लिखे। भवे की मंडली व्यापारिक आधार पर उठी और उसकी देखादेखी और भी कई अच्छी नाटक-मंडलिया स्थापित हो गईं। इस प्रकार मराठी रंगमंच को अच्छी प्रगति प्राप्त हुई।

× × ×

गुजराती लोग प्रायः व्यापारप्रिय होते हैं। उनके यहा साधारण मनोरंजन के लिये बहुत दिनों तक पारसी मंडलिया उपयोग मे आती रहीं। पारसी कंपनिया व्यापारिक दृष्टिकोण लेकर चलती थीं। इसके अतिरिक्त उनका न कोई सामाजिक उद्देश्य था न साहित्यिक। अतः आगे चलकर इसकी प्रतिक्रिया हुई और इस प्रतिक्रिया का नेतृत्व किया **रणछोड़ भाई उदयराम ने**।

रणछोड़ भाई ने संस्कृत के कई नाटकों का अनुवाद भी किया और मौलिक रचना भी की। इनका लिखा 'ललिता दुख दर्शन' गुजराती नाटकों मे सबसे पहला नाटक है।

गुजरात के प्रसिद्ध राजनीतिक नेता श्री **के० एम० मुंशी (कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी)** साहित्य के बहुत बड़े प्रेमी हैं। आप गुजराती

के अतिरिक्त संस्कृत और अंगरेजी के भी अच्छे विद्वान् है। उन्होंने कहानी और उपन्यास-रचना मे वैसा ही मान प्राप्त किया है जैसा भारतीय राजनीति मे। गुजराती मे कई नाटक भी लिखे हैं। उन्हे रगमच का अच्छा ज्ञान है इसलिये नाट्य-रचना मे उन्हे अच्छी सफलता मिली है।

श्रीमती मुशी (मुंशी जी की धर्मपत्नी) ने भी कई अच्छे एकाकी लिखे हैं, जिनमें उन्हें अच्छी सफलता मिली है।

इनके अतिरिक्त **आर० वी० देसाई** ने भी नाटककार के रूप मे अच्छा मान प्राप्त किया है।

गुजराती कंपनी की स्थापना मे विशेष सहयोग देकर **नरोत्तम अध्यापक** ने भी अच्छा नाम प्राप्त कर लिया है।

गुजरातियो की मिलनसारी मे—आदान-प्रदान की भावना मे—जिस उदारता का सम्मिश्रण रहता है उससे उनके साहित्य के प्रसार की बहुत आशा की जा सकती है। विश्वास है कि गुजराती साहित्य के भांडार मे शीघ्र ही उच्च कोटि के नाटकों की एक अच्छी संख्या प्रस्तुत हो सकेगी।

सातवां प्रकरण

कुछ नाटकों पर चिंतन-दृष्टि

भास का—

स्वप्न वासवदत्ता

कहनेवाले स्वप्न वासवदत्ता को चाहे तो स्वर्गलोक कहे, चाहे मर्त्य; हमे तो वह आदर्श संसार दिखाई देता है। नाटक के किसी भी पात्र को ले लीजिये; प्रत्येक मे आदर्शवाद का स्थान है। और हो भी क्यों न, जब कि नाटककार का ध्येय ही आदर्श की स्थापना करना है। 'स्वप्न' महाकवि भास की रचना है और भास बहुत पुराने और शायद सब से पहले नाटक-रचयिता है। पथ-प्रदर्शकों को अपना मार्ग स्वयं ही बनाना होता है— वे अपने लिये स्वयं ही आदर्श होते हैं। उन्हे दूसरों से किसी प्रकार का आधार प्राप्त करने का कोई स्थान नहीं होता। आविष्कारक, जिसे अपने लिये कोई आदर्श प्राप्त नहीं है, यदि कहीं त्रुटि कर जाये तो वह उसका भारी पाप नहीं। वह अपने पैरों पर चला है—एकान्त मे चला है। उसका साथी? वह केवल अकेला है।

भास किसी के सहारे नहीं चले—वे अपने आधार स्वयं ही थे। हो सकता है वे अपनी कठिनाइयों के कारण कही राह से विचलित हो जाते, पर नहीं, ऐसा कहीं भी नहीं हुआ। 'स्वप्न' का पाठक निःशङ्क होकर कह सकता है कि उनका मार्ग बड़ा प्रशस्त है।

आप उनके किसी पात्र को लीजिये और देखिये आदर्श का कहीं परिहास तो नहीं हो गया ? क्या स्त्री, क्या पुरुष और क्या छोटा और क्या बडा—उनका प्रत्येक पात्र अपना आदर्श रखता है। इसी लिये हमने कहा कि 'स्वप्न' है आदर्श की दुनिया।

उनके आदर्श पात्र

मानव-प्रकृति तथा वास्तविकता का सच्चित्रण

वत्सराज उदयन हमारे नाटक के मुख्य पात्र अथवा नायक हैं। कवि ने अपने नायक को आदि से लेकर अन्त तक आदर्श पर चलाने का उद्योग किया है। मोहजनित प्रेम कभी-कभी ले भी डूबता है; शायद वही मोह नायक के हृदय में भी उत्पन्न हुआ है, पर वह मोह उसे आदर्श से नही गिरा सका और गिरा भी कैसे सकता ? उसके तो सहायक ही थे वे जो आदर्शवाद का लक्ष्य लेकर चले थे। भास के नायक इतने दृढ़ नहीं कि वे बलपूर्वक दैवी आपत्तियो को सह लें। यही कारण है कि वासवदत्ता की वियोग उसे एक-दो बार नही, बल्कि अनेक बार रुलाता है। राजा रोते-रोते अचेत होकर भूमि पर गिर जाते हैं। उन्हें वहकाने पर विश्वास हो चुका कि प्राणप्रिया वासवदत्ता अब संसार मे नही—वह अब वहा चली गई, जहां से कोई लौटकर नहीं आता, परंतु फिर भी वे मोहवश इस प्रकार विलाप करते है, जैसे उनके विलाप करने से वासवदत्ता उन्हें मिल ही जायगी। हमे उनके मोह की हद तो उस समय प्रतीत हो जाती है जब कि स्वप्नावस्था में वे "हा ! वासवदत्ता !", "हा ! अवंति-राजकुमारी !", "क्या रुठ गई ?"

आदि कहकर "वासवदत्ता, ठहर, ठहर !" करते हुए एकाएक जग जाते हैं। विदूषक के पूछने पर उत्तर मिलता है-"वासवदत्ता जी रही है—वह मुझ सोते हुए को जगा गई।" विदूषक ने विश्वास दिलाया—"नहीं, स्वप्न देखा है।" कितना प्रेम है, राजा को ऐसा स्वप्न भी प्रिय है, कह न दिया—

"सच ही यह स्वप्न है सखे !
दयिता-दर्शक नित्य ही रहे !
भ्रम हो यदि इष्ट है यही,
दयिता भ्रांति रहे सदा बनी ॥"

कहनेवाले भले ही इसे नैतिक निर्बलता कह दें, परंतु ऐसा नहीं। कवि यदि इस रूप में राजा को न रखता तो नाटक एक सूखी कहानी रह जाती। सच बात तो यह है, स्वप्न में यदि कोई वस्तु है तो वह है केवल उसका करुणरस। उसका आधार है वत्सराज उदयन। कल्पना भी किसी वास्तविकता के सहारे ही रह सकती है। भास इतना जानते थे कि पत्नी-वियोग प्रत्येक को समान दुःख देता है। क्या हुआ कोई धनी अथवा राजा है; है तो आखिर हरेक हृदयवाला ही। और सच जानिये, यहा पर राजा का यह मोह ही नाटककार के वास्तविकता-परीक्षण की सफलता तथा नाटक का प्राण है। हम पूछते हैं—क्या पत्नीव्रत धर्म ऐब है ? और यह प्रेम है क्या ? अधिक क्या, स्वप्न में उदयन का चरित्र मानव-प्रकृति के वास्तविक-परीक्षण का चित्र है, जिसे भास ने खूब खींचा है। देखिये न, भास के उदयन भी तो आखिर इसी दुनिया के व्यक्ति हैं। यदि वे प्रेम के कारण उज्जयिनी-नरेश की कन्या को प्रेमवश ले

भागें तो कौनसी विचित्र बात हो गई ? पाणि-ग्रहण संस्कार भी तो आखिर दो हृदयों का संयोग ही होता है; सो उनमे हो ही गया ।

वत्सराज उदयन को जीवन-संगिनी भी आदर्श विश्व की निवासिनी ही मिली है । आदर्श गृहिणी मे जो जो गुण होने चाहिये, वे सभी गुण स्वप्न की इस नायिका मे देखियेगा । वासवदत्ता ने विधिपूर्वक उदयन को चाहे न वरा हो परंतु आप यह नहीं कह सकते कि उन दोनों के दांपत्य जीवन मे कोई त्रुटि है । प्राणपति के प्रति उसमे कम श्रद्धा नही है । और तो देखिये—वह केवल स्वार्थों के लिये उदयन से प्रेम नहीं करती, यदि ऐसा हो तो मंत्रियो की मंत्रणा उसे आवंतिका के वेष मे बेगाने द्वार की भिखारिन न बना सके । आप ही बताइये, क्या उसने उदयन के हित के लिये पति वियोग का अति दारुण कष्ट नही सहन किया ! वियोग से तो उदयन ने भी भारी कष्ट सहे परंतु आवंतिका के महान् कष्टों के सामने उनकी कोई तुलना नहीं । उदयन तो फिर भी इतना स्वतंत्र है कि उसने झट पद्मावती को अपनी रानी बना लिया, परंतु वासवदत्ता की स्थिति देखिये—वह न तो उदयन के स्थान पर ही किसी को चुन सकती है और न किसी से अपनी सारी रामकहानी ही सुना सकती है । क्या आप इस बात को मानने के लिये उद्यत नहीं कि वासवदत्ता की परोपकारमयी भावनाओं के कारण ही राजा उदयन का कल्याण हो सका । वासवदत्ता के वियोग के फल-स्वरूप राजा ने दूसरा विवाह किया और दूसरे विवाह से ही वह इतना सामर्थ्यवान् हो सका कि खोये हुए राज्य को फिर लौटा ले । वासवदत्ता देवी है—उसने पति की शुभ कामनाओं के लिये अपने सर्वस्व की बलि देकर स्त्री संसार के लिये पति-भक्ति का ज्वलंत उदाहरण उपस्थित कर दिया है ।

उदयन अपनी पीड़ा, जब और जिसे चाहें सुना सकते है—जहा चाहें अपने दुःख के आसू बहा सकते हैं, पर बेचारी वासवदत्ता को इतनी स्वतंत्रता कहा ? वह नारी है—अबला है। वह आपत्तियाँ सहेगी, परंतु रोना नहीं होगा। हृदय रखनेवाला ऐसा कौन है, जो इस दृश्य को देखकर रो न पड़े। क्या इसे करुणा की सीमा नही कहेंगे ? इसी लिये तो हमने कहा कि स्वप्न का प्राण करुणरस है। दुःखी विश्व के कोने मे बैठकर आप भी दो आसू बहा दीजिये।

सौतिया डाह नारी का एक गुण मानिये—वह कलंकित करनेवाला गुण (?) रघु-कुल-गौरव दशरथ की किसी रानी ने भले ही अपनाया हो, परन्तु वासवदत्ता उससे सर्वथा मुक्त है। और भला वह डाह करे भी क्यों ? उसी की प्राप्ति के लिये तो उसने सब कुछ किया है—पर यह भी छोटी बात नहीं कि वह स्वयं घर मे एक सौत लाने का उद्योग करती है। उसे सौत का दुःख भी तो अपनी ही पीड़ा प्रतीत होती है। पद्मावती बीमार होती है तो करुणाभरे शब्दों मे कहती है—"ओह ! मेरे ईश्वर रूठे हुए हैं। विरह से अधीर आर्यपुत्र को एकमात्र शाति प्रदान करनेवाली यह पद्मावती सो रही है, तब तक बैठ जाती हूं।... अन्य आसन पर बैठने से प्रेम कुछ कम सा जान पड़ता है इसलिये इस सेज पर ही बैठती हू।

"सेज के एक किनारे पर सोने से—मानो—अपना आलिंगन करने को कह रही है ! अच्छा तो लेटे जाती हूं।" वासवदत्ता ! धन्य है तुम्हें—तुम्हारे प्रेम को, तुम्हारी पतिभक्ति को और तुम्हारी कल्याणमयी भावनाओं को—तुम अपने लिये नहीं अपितु दूसरो के लिये जीती हो।

पतिभक्ति-परायणा पद्मावती भी वासवदत्ता के लिये अपने हृदय मे कम प्रेम नहीं रखती। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने यदि वासवदत्ता

को सीता के रूप मे दिखाया है तो पद्मावती को उर्मिला बना दिया है। क्या आप नही मानेगे कि उन दोनो का प्रेम सर्वथा सहोदरा बहनो जैसा है। उदारता तथा स्नेह की मात्रा उसमे भी वासवदत्ता से कम नही है, यह पद्मावती की उदारता ही तो है कि उसने उसे बड़े स्नेह से अपने पास सखी रूप मे रखा है। उसे यह मालूम है कि राजा वासवदत्ता के वियोग से चिंतित रहते हैं, इसी लिये वह अपने आपको ठीक उसी के रूप मे दिखाना चाहती है। वह चाहती है कि राजा को इस बात का ध्यान ही न आये कि वासवदत्ता परलोक सिधार गई। इसी के लिये वह भरसक प्रयत्न भी करती है। महाराज महासेन के भेजे "रैभ्य नाम के कंचुकी" तथा महारानी अंगारवती की भेजी "वासवदत्ता की धाय आर्या वसुंधरा" उदयन के द्वार पर आती है। राजा द्वारा इस समाचार को पद्मावती ने भी सुन लिया है। वह स्नेहमयी वाणी मे राजा से कहती है—"आर्यपुत्र! बंधुओं का कुशल-समाचार जानने की मेरी भारी अभिलाषा है"... "आर्यपुत्र! पिता जी व माता जी ने न जाने क्या कहा होगा!" ये बंधु और माता-पिता कौन हैं? वासवदत्ता के भाइयो तथा माता-पिता को वह अपना ही समझती है। इससे अधिक सहृदयता और क्या होगी? उसके हृदय मे चित्रलिखित वासवदत्ता के लिये भी सम्मान का स्थान है।

इस कल्याणमय षड्यंत्र के संचालक कौन थे? उदयन के प्रधान मंत्री यौगंधरायण तथा स्वामीभक्त रुमण्वान्। सारी लीलाये देशभक्त तथा राजभक्त मंत्रियों के हाथों क्यों खेली गईं! केवल कल्याण की इच्छा से। नाटककार की इस कल्पना को देखकर सचमुच दांतो तले अंगुली दबानी पड़ती है। यदि कवि राजा को बिना वासवदत्ता के इस प्रकार निर्वासित किये पद्मावती से मिला देता तो नाटक का

कोई महत्त्व ही न रह जाता। यह करुणा का स्रोत फिर स्वप्न में न बहता होता, और फिर स्वप्न यह स्वप्न भी न रह जाता। कवि-कल्पना और भावों की उडान यही तो है।

राजभक्त यौगंधरायण का यह षड्यन्त्र शायद अधूरा रह जाता यदि उसे रुमण्वान् जैसा राजभक्त साथी न मिल जाता। रुमण्वान् का चरित्र ऐसा उपस्थित किया गया है मानो वह राजा का एक सच्चा सगी हो। और यह ठीक जानिये—राजा को यदि ऐसी सहानुभूति न दिखाई गई होती तो नाटक में आगे उन्हें जीते हुए दिखाना शायद कल्पना ही होती।

वासवदत्ता स्वयं भी राजभवनों को छोड़ तपोवन मे पहुंच सकती थी, यदि कवि चाहता तो। पर वह तो निरी ही कल्पना हो जाती—क्या राजकन्या वन के मार्ग जानती थी? तभी तो यौगंधरायण को संन्यासी का वेष दिया गया है।

पद्मावती के तपोवन की कल्पना भी कैसी सुन्दर वस्तु है—सन्यासी को अच्छा मौका मिल गया और उसे भी वह भिक्षा मिल गई जिससे उसका अभीष्ट सिद्ध हो सकता था। इसी स्थान पर एक ब्रह्मचारी की कल्पना की गई है। इससे केवल इतना ही प्रतीत होता है कि नाटककार उसके वार्तालाप के द्वारा अपने पाठको को उन घटनाओं का परिज्ञान करा देना चाहता है जिनका संबंध उस छिपी हुई कथा से है जिसे वह रंगमंच पर लाना नहीं चाहते। यथा—ग्राम का जलाया जाना तथा राजा का व्याकुल होकर रोना-धोना इत्यादि। कवि ने जान-बूझकर उसे क्यों छिपाया? इसका कारण केवल यही है कि आचार्यों के मत से ये दृश्य रंगमंच पर दिखलाने की वस्तु नहीं। ग्राम में आग लगाना, उसमे मनुष्यों का कूदकर प्राण देना, इत्यादि दृश्य रंगमंच

पर दिखाना अशुभ तथा वर्जनीय है। इसलिये ये बातें ब्रह्मचारी की कल्पना करके पूर्ण की जाती हैं।

महासेन तथा अंगारवती द्वारा रैभ्य तथा धाय को उदयन के दरबार में भिजवाने का अभिप्राय क्या है? भास उनके द्वारा इस बात को प्रमाणित कर देना चाहते हैं कि आवंतिका ही वासवदत्ता है। यह प्रमाणित हो जाता है। राजा उसे फिर ग्रहण कर लेता है।

स्वप्न का विदूषक बहुरूप में

करुणा-मूर्ति 'स्वप्न' मे हास्य भी यत्र-तत्र उत्पन्न होता है। हास्य मे करुणा का सारा भाव कहीं-कहीं नष्ट हो जाया करता है, परंतु नाटककार ने ऐसा नहीं होने दिया। भास के विदूषक अपनी चेष्टाओं से आपको मुस्कराने के लिये तो अवश्य विवश कर देंगे, परंतु इतना नहीं हंसने देंगे कि आप हंसी मे नायक की करुण कहानी को सर्वथा ही भुला बैठें। देखिये न "कोकिलो की आखों की तरह पेट को घुमाकर" तथा "शरद् ऋतु की धूप" को असहनीय कहने मे अपना नखरा दिखाकर वे आपको हंसा देंगे; पर राजा के द्वारा यह पूछे जाने पर कि तुम्हे वासवदत्ता प्रिय थी कि पद्मावती? अपने उत्तर पर आप को दुःख की सास भरने के लिये विवश अवश्य कर देंगे। देखिये—"अब सुनें आप। देवी वासवदत्ता मुझे अधिक प्यारी हैं।"......

"हा-हा, आ-आ...! वासवदत्ता कहा? वासवदत्ता तो कभी की चल बसी।"

'स्वप्न' के विदूषक का काम केवल हंसाना ही नहीं है; आप उसे राजा को धैर्य बधाते भी देखेंगे—"धीरज धरें, धीरज धरें, महाराज! भाग्य प्रबल है। उसे अब यही करना था।"

राजा के रोने का भेद न खुल जाये इसलिये ये महाराज पत्ते मे पानी लेने दौड़ते हैं, पर भेद खुलने मे कसर नहीं रहती। पद्मावती ने पूछ ही लिया—"यह क्या है?" कह दिया—"राजा की आखों मे कास के फूलों का पराग गिर पड़ा है", उसके लिये वह पानी लाये है। राजा इनका उत्तर कुछ और न दे दे इसलिये उनके कान मे भी कह दिया जाता है—

"विदूषक—(कान मे) ऐसा सा हैं।"

यहा आप हंसेगे भी और रोयेगे भी। विदूषक की प्रत्युत्पन्नमति पर आपको हंसना पडेगा, और आंसू गिराने होंगे राजा की सहानुभूति के लिये। उत्तर के लिये विदूषक को कल्पना खूब सूझी। भला सूझती भी क्यों न; भास तो श्वास भी कल्पना के क्षेत्र मे लेते है, फिर उनके विदूषक इससे खाली कैसे रहे ?

× × ×

हमने पहले कहा है कि भास अपनी राह के अकेले राहगीर थे। उन्हे राह बनानी पड़ी, परंतु उनकी राह मे कोई त्रुटि आपको कहीं न मिलेगी। उनके स्वप्न मे आप हंसते-खेलते, दुःखित तथा चिंता में, डूबते, कल्पना तथा विचारों मे तैरते और गोते खाते; देखेंगे। इसके अतिरिक्त नगर तथा वन-जंगल, सुख और संकट आदि भी देखेंगे। उसमे जागते हुए भी मिलेंगे, और सोते तथा स्वप्न देखते भी, पर हमे तो यही कहना है—"स्वप्न की आदर्शमयी दुनिया मे ऐसी बात कोई न देखेंगे, जिससे आपको यह कहना पड़े—ऐसा क्यों?" अधिक क्या, भास कल्पना-जगत् के प्राणी थे, इस कल्पनामयी कृति मे उन्होने आदर्श का स्थापन किया है।

कालिदास का

अभिज्ञान शाकुंतल

कवि-कुल-गुरु अमर कवि कालिदास का नाम लेते ही सहसा शकुंतला की याद आ जाती है। महान् कवि की महान् रचना की महत्ता का प्रमाण इससे अधिक और क्या हो सकता है? कवि ने जिस प्रकार पुरुवंशी महाराज दुष्यंत और सहृदया शकुंतला की स्मृति को अमर बना दिया है, उसी के उपकार-स्वरूप उसने कवि-सम्राट् के नाम को सदा के लिये अमर कर दिया है।

शाकुंतल-रस-विवेचन।

साहित्य-संसार मे यह बात प्रसिद्ध है कि कालिदास शृंगार रस के एक-मात्र अवतार हैं, इस बात को सत्य मानते हुए भी यह अवश्य कहना पड़ेगा कि शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों में भी उन्होने सफलता को सीमा तक प्राप्त किया है।

यहां हमे केवल शाकुंतल के विषय में ही कहना है। वैसे तो उन्होंने अपने अन्य काव्यों—रघुवंश, मेघदूत आदि—मे शृंगार के अतिरिक्त वीर, करुण, भयानक और वात्सल्य आदि का भी आस्वादन कराया है।

शाकुंतल में भी केवल शृंगार रस ही हो, ऐसा नहीं है। उन्होंने शृंगार रस के वर्णन में जिस प्रकार सीमा पार कर दी है उसी प्रकार करुण रस द्वारा अपने पाठकों के हृदय पिघलाने में भी क़मी नहीं उठा रखी है।

शकुंतला अपने मुंहबोले बाप से विदा की जा रही है। उसे दोनो ओर का स्नेह समान रूप से अपनी ओर खींच रहा है। उसके पैर तो चलते है आगे-आगे और हृदय हटता है पल पल पीछे। प्रेम-मोह में वह इतनी बेसुध सी हो गई है कि मनुष्य ही क्या, वन के पशु-पक्षी तक का बिछोह भी उसे दुःखकर प्रतीत होता है। और तो क्या, वन की लतायें तक उसे सखी के रूप में आकर्षित करती हैं। मनुष्य से वन-विच्छेद का ऐसा करुणा-पूर्ण वर्णन संसार के साहित्य मे क्या कहीं अन्यत्र देखने को मिलेगा जैसा कि 'अभिज्ञान' के चौथे अंक में है ? इस करुणा का प्रवाह केवल उस अबला के हृदय मे ही नहीं है बल्कि तपस्वी कण्व का हृदय भी इस करुणा से पानी-पानी होकर बह रहा है। वह दुःखी होकर कहते हैं—

> आज शकुंतला जायगी, मन मेरो अकुलात।
> रुकि आसू गद्‌गद गिरा, आँखिन कछु न लखात ॥
> मोमे वनवासीन जो, इतौ सतावत मोह।
> तो गेही कैसे सहैं, दुहिता प्रथम बिछोह ?"

हद है करुणा की।

अभागी पिता से विदा होकर राजा के दरबार मे जाती है। राजा शाप-वश उसे बिल्कुल भुला चुका है। बार-बार आश्रम-मिश्रो और गौतमी के कहने पर भी राजा को शकुंतला की याद नहीं आती, उस समय शकुंतला के मूक हृदय से पूछो, "करुणा क्या वस्तु है ?" इस संकट-काल मे उसका अपना कौन है ? राजा ने तो मानों उसे बिल्कुल निराश ही कर दिया है। साथ ही वनवासिनी गौतमी और आश्रम के मिश्र भी उसे निराधार छोड़ देते हैं। शारंगरव तो स्पष्ट ही कह देता

है, "शकुंतला यदि तू ऐसी ही है तो मुनि के आश्रम मे नहीं जा सकती।" संसार मे शकुंतला का कौन है ? बस हृदय को शांति देने के लिये उसके पास केवल एक उपाय है—वह है रोना। निराधार, पीडित, दलित और कर ही क्या सकता है ? परंतु वह रोना भी "अरण्यरोदन" मात्र है, फिर इससे क्या ?

शकुंतला भोली-भाली तथा मुनि की आश्रमवासिनी कन्या है। सीधा-सादा स्वभाव, भोली भाली सूरत, सहज स्वाभाविक चितवन—यह सब उसे वन के आश्रम-परिचित मृग-शावकों से मिला है। अधिक क्या, एक रूप में हम उसे मृग-शावकों के रूप में देख पाते हैं। वन में घुसते हुए राजा को तीर चलाने से वरजा गया है और प्रार्थना की गई है, कि ये वन के प्राणी रक्षणीय है—"भो भो राजन् आश्रम-मृगोऽयं न हंतव्यो न हंतव्यः।" राजा ने इन शब्दो को सुनकर आखेट की इच्छा को त्याग आश्रम-मृगो को रक्षणीय स्वीकार किया है। परंतु फिर भी मृग-शावका उस शकुंतला की रक्षा नहीं हो सकी। वह भी तो—मृग-शावकों के साथ पली और खेली है, और वैसे भी तो, "द्वौऽपि अत्र अरण्यकौ।" तभी तो शकुंतला करुणा की पात्री है। इससे हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि 'अभिज्ञान' मे शृंगार के पश्चात् करुण रस की प्रधानता है।

शाकुंतल के पात्र

दुष्यंत ने आरंभ मे—जैसा कि पहले कह चुके है—एक शिकारी के रूप मे रहते हुए भी आश्रम-मृगो की रक्षा स्वीकार की; परंतु इस रक्षाकार्य मे बेचारी उस मृगनयनी शकुंतला की रक्षा न हो सकी। हम इसके पीछे शकुंतला से बिछुडने पर उसे (राजा को),

यदि सच पूछा जाय, तो एक कामुक व्यसनी के रूप मे पाते हैं; और उसकी हद तो नाटककार ने यहा तक कर दी है कि उसका रूप एक व्यभिचारी—लंपट—से मिलता-जुलता-सा रह जाता है। कवि-कल्पना के अनुसार भले ही उससे ऐसा शापवश हुआ हो, परंतु न्याय-दृष्टि से राजा का वास्तविक रूप उज्ज्वल नही है। वह अपराध-रहित नहीं। शाप की कल्पना करके राजा को निर्दोष ठहराने का यत्न किया जा सकता है, परतु शकुतला के प्रति यह एक अत्याचार ही होगा। एक निरपराध मुनि की कन्या से इतना घनिष्ठ संबंध हो जाने पर भी उससे यह कहना कि "स्त्री, मै तुझे नही जानता।" और बात-चीत चलने पर यह कहकर उस अबला का उपहास करना कि "स्त्री की तत्काल-बुद्धि यही तो कहलाती है," साधारण धोखे-बाजो की जैसी बात प्रतीत होती है। कहिये, क्या यहा पर राजा का चरित्र लपटों से कहीं ऊंचा दीखता है ? वह शकुंतला के द्वारा बार-बार याद दिलाने पर भी जब यह कहता है कि "अपना प्रयोजन साधने वाली स्त्रियो की मीठी-झूंठी बातों मे तो कामी जनो के ही मन डिगते हैं," तब वह सचमुच कपटीसाधु सा प्रतीत होता है, जिसका वेष तो हो सच्चरित्रों जैसा और अभ्यंतर हो कपट-कालिमा से सर्वथा काला। इतने महान् अपराधी के चरित्र को कवि ने 'शाप' की कल्पना के बल से ही उज्ज्वल कर दिया है। इस कल्पना के लिये हम न सही, परंतु राजा दुष्यंत के प्रति सहानुभूति रखनेवाला व्यक्ति तो धन्यवाद दिये बिना कभी न रह सकेगा। नाटककार यदि यहा शाप की कल्पना न करता तो 'अभिज्ञान-शाकुतल' लंपटो की कहानी-मात्र था—वह विषयी कामुकों का किस्सा था।

नायक के चरित्र से यह असंतोष केवल हमे ही हो ऐसा नहीं, कवि भी स्वयं उसे सर्वांश मे निरपराध समझने से इंकार करता है। उसकी दृष्टि मे ऐसा चरित्र सर्वथा श्वेत नही माना जा सकता; वह उसके लिये बिना दंड दिये उसे मुक्त करना उचित नहीं समझता। उसे इस अपराध का दंड उसने स्पष्ट रूप से दिया है। यो तो राजा स्वयं ही अपने किये पर इतना दुःखी है कि, हम कह सके कि वह अपने किये का फल पा चुका। परंतु फिर भी कवि कुछ और चाहता है। और उसने अपनी इस मानसेच्छा को कार्यरूप मे परिणत करके ही छोडा। अपराधी राजा को उसने तपस्विनी शकुतला के चरणो पर गिराकर ही छोड़ा। साथ ही क्षमा भी मंगवाई। दुष्यंत कितने विनम्र शब्दो मे कहता है—"मन से प्यारी दूरि अब डारि विलग अपमान"। उसके दो अपराध है, एक तो वनवासिनी, अबोध, भोली-भाली कन्या के सतीत्व का भंग, और दूसरा अपने वचनो का उल्लंघन करके स्पष्ट यह कह देना कि मै तुझे जानता भी नहीं। इन दोनो अपराधो के दंड भी दो ही दिये गये है—एक महान् काल तक का मनस्ताप और दूसरा पैरो पर गिरकर क्षमा-प्रार्थना।

स्त्री का गुण उसकी कोमलता ही तो है, फिर शकुंतला उससे युक्त क्यो न हो! पैरो पर पड़े क्षमाप्रार्थी राजा को प्राणपति कहकर उठने के लिये कहती है। जब वह उठता है तो करुणापूरित शब्दों मे पूछती है—"अब यह कहो कि मुझ दुखिया की सुधि तुम्हे कैसे आई?"

इसका उत्तर तो राजा के स्नेही नेत्र ही दे सकते थे।

इन दो महान् तथा आकर्षक पात्रो के अतिरिक्त तीसरे पात्र हैं शकुंतला के पालनेहारे मुनि कण्व। शकुंतला उन्हें पिता कहती है और वे उसे पुत्री कहते है। हमे उनके सरल-शात स्वभाव पर जैसे श्रद्धा होती है वैसे ही कुछ लोगो मे उनके प्रति क्रोध-भाव भी उत्पन्न हो सकता है। यात्रा से आने पर वे अपनी मुंह-बोली दुहिता को राज-दरबार मे भेज देते है। वहां शकुंतला के साथ दुष्यंत का कैसा वर्ताव हुआ, मुनि उसे भी जानते हैं और शकुंतला के वन-तपस्विनी हो जाने का भी ज्ञान उन्हें पूरा-पूरा है, परंतु वे अपनी पुत्री की अपमान-कहानी तथा वन-निवास की कथा सुनकर भी चुप रह जाते हैं। एक सत्ताधारी राजा के सामने उनका इस प्रकार दीन सा होकर रहना, उनका पतन नही तो और क्या कहा जायगा? बहुत से लोग कण्व की दुहाई देने के लिये यह कह सकते हैं कि "वे सर्वदर्शी थे—वे यह जानते थे कि यह सब शापवश इसी प्रकार होना है।" क्या कहे, कवि-कल्पना ने कण्व की निर्बलता को उनकी बहुज्ञता मे परिवर्तित कर दिया है, उसी मे उनका महत्त्व था। कण्व निर्द्वंद्व तपस्वी थे। अपने तेजोबल से वे राजा को उपदेशों द्वारा मार्ग पर लाने का प्रयत्न कर सकते थे, तब सब क्यों ऐसा हुआ? कवि ने सब का उत्तर दे दिया—शाप की लीला का ज्ञान ऋषि को था।

शाप हुआ तो क्या अपना धर्म भी तो पालन करना चाहिये—राजा से कहना तो चाहिये ही। क्या कर्तव्य की रक्षा के लिये आप कुछ भी न करेगे? इस स्पष्टवादिता के लिये शारंगरव को धन्यवाद! शारंगरव ने सच कहने के लिये भय खाना तो सीखा ही नही। जब बात बनती ही नही तो क्रोधपूर्वक राजा से कह देता है—

"राजन्, जिनको ऐश्वर्य का मद होता है उनका चित्त स्थिर नहीं रहता।"

उसकी दृष्टि मे तो शकुंतला भी सर्वथा निर्दोष नही—तभी तो कहता है—

"बिन परखे करिये नहीं, कहुँ इकंत संबंध।"

वह शकुंतला के चरित्र की आलोचना करने मे भी कोई आगा-पीछा नही करता। यही तो स्पष्टवादिता है।

वनवासिनी शकुंतला को अकेली देख नाटककार ने उसकी दो सखियों की कल्पना भी खूब की है। इनमे एक है प्रियवदा और दूसरी अनसूया। इनके चरित्र-चित्रण के विषय मे नाटककार से एक शिकायत अवश्य हो सकती है—वे ऋषि-कन्याएं है—वे तपोवन-वासिनी है—परंतु फिर भी भोली-भाली शकुंतला से संबंधित वर्णित विषय से वे साधारण आचरणवाली जान पडती है। उनका चरित्र किसी विशेष आदर्श को प्राप्त नही। वह आश्रम-व्यवस्था के विरुद्ध सा जान पड़ता है। तपोवनवासिनी ऋषि-कन्याओं का सांसारिक ज्ञान इतना! इसे नाटककार के चरित्र-चित्रण का दूषण तो क्या कहे पर तपोवनवासिनी कन्याओ के उज्ज्वल चरित्रो के लिये ये श्याम टीके तो अवश्य ही है।

इसके अतिरिक्त माढव्य का मौके का हास्य सुनकर चुप तो कदापि न रहा जायगा। वह यों तो राजा का मंत्री है परंतु काम विदूषक का भी करता है। राजा को इस बीमारी से बचाने के लिये उसने उपदेशक का भी काम किया है। वन-वासिनी कन्या को राजा ऐसी दृष्टि से देखे, यह उसे प्रिय नहीं लगता। इसी

लिये वह उसे रोकता भी है। बेचारे की सारी सीख बेकार जाती है तो वह क्या करे? उसकी कोई सुनता ही नही तो वह भी स्वर मे स्वर मिलाकर कह देता है—"तो तुम उसे बेग ब्याह लो नहीं तो अखंड पुण्य का फल किसी हिंगोट के तेल लगे हुए चिकने सिरवाले जोगी के सिर पड़ जायगा।"

'शकुंतला' के मुख्य-मुख्य पात्रों का चित्रण हम कर चुके। अब तनिक वर्णन-शैली पर विचार कीजिये! 'शाकुंतल' मे छोटे-बड़े कुल मिलाकर ३२ पात्र हैं—पात्रों का आधिक्य पाठको के लिये दुरूहता उत्पन्न कर देता है। भावों का सौंदर्य कभी-कभी पात्रों का नाम याद रखने में ही नष्ट हो जाता है, इसलिये यह आधिक्य नाटक की सुंदरता के लिये औचित्य की सीमा का उल्लंघन ही है।

शाकुंतल में चरित्र-चित्रण और वर्णन-शैली

'शाकुतल' मे चरित्र-चित्रण के लिये कल्पना की भावुकता के साथ-साथ वास्तविकता का निर्वाह भी संयमपूर्वक किया गया है। तात्पर्य यह है कि कल्पना के झोको में वास्तविकता को उड़जाने से नाटककार ने अच्छी तरह रोके रखा है। उसके पात्रों मे नरलोक और सुरलोक दोनो ही के वासी हैं। नरलोक-वासियो को आदर्श रूप देने के लिये उन्होने कभी यह इच्छा नहीं की कि उन्हें उनकी वास्तविक स्थिति से ऊचा तथा बढ़ा-चढ़ा दिखाकर अपने पाठको को चमत्कार मे डाला जाय। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने अपने प्रिय से प्रिय पात्र की मनोवासनाओं को स्पष्ट रूप से प्रगट कर दिया है।

इस चरित्र-चित्रण की सुंदरता के साथ-साथ कालिदास की वर्णन-शैली की प्रशंसा किये बिना भी नही रहा जा सकता। उनके यहा जहा

कल्पना-जगत् की स्पष्ट छाप है वहा वास्तविकता का चित्र भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उसने हमारे सामने शकुंतला का वर्णन उसके स्वाभाविक रूप मे ही किया है। वह चाहता तो उसे काल्पनिक आदर्श का बाना पहना सकता था, परंतु इसमे उसका भारी पतन निश्चित था। वह आदर्श केवल ढोग ही रह जाता और 'शकुंतला' शकुंतला रह जाती। उसका रूप योगभ्रष्टो जैसा हो जाता—उसे मुंह की खानी पडती।

कवि ने मानव-प्रकृति ही नही बल्कि प्राणिमात्र की प्रकृति को समझने मे अपनी कुशलता का परिचय दिया है। कवि क्या प्रत्येक प्राणी हृदय रखता है और उसमे रखता है स्नेह। बिछुडती हुई शकुतला को देखकर यदि कण्व जैसे तपस्वी यति का हृदय करुणा से द्रवित हो जाता है तो क्या हरिणिया अपने आपको हृदयशून्य प्रकट करेगी? हरिणियां ही नही उसके बिछुडने का दुःख तो वन के पत्ते-पत्ते की आकृति से प्रकट है। यदि तपोवन की हरिणिया अपनी आखों से शोकाश्रु बहा सकती है तो उपवन की बेलें भी मुर्झाना जानती है। कितना प्रिय है यह संताप भी :—

"लेत न मुख मे घास मृग; मोर तजत नृत जात।
आँसू जिमि डारत लता पीरे-पीरे गात॥"

नाटको तथा उपन्यासों पर नाटककारो तथा उपन्यासकारो के तत्कालीन नैतिक तथा सामाजिक विचारो का प्रभाव कुछ न कुछ अवश्य पडता है। 'शाकुंतल' पर भी गुप्त-कालीन संस्कृति, सभ्यता तथा सामाजिक विचारो का प्रभाव स्पष्ट है। नाटक के द्वारा हमे ज्ञात होता है कि कालिदास के समय एकतंत्र राज्य की प्रथा थी। राजा ही सब का एकमात्र शासक होता है। लेकिन वह एक न्याय-

शील व्यक्ति होता है। सारी प्रजा का सर्वेसर्वा होते हुए भी वह अपना धर्म-कर्तव्य केवल प्रजा की सेवा ही समझता है। उसके राज्य मे चिंतित और दुःखित कोई न रहे, यही उसकी हार्दिक कामना है। राज-कोष की वृद्धि के लिये किसी निःसंतान के धन का अपहरण करना अच्छा नही समझा जाता।

इतना सुप्रबंध होते हुए भी राजकर्मचारियो मे घूँसखोरी प्रचलित है। छोटे छोटे राजकर्मचारी निर्धन निरपराध व्यक्तियो को सताते हैं—वे आज-कल के रिश्वतखोरो से कम नहीं देख पड़ते। अपराध सिद्ध न होने से पूर्व किसी शंकित व्यक्ति को दंड देना न्याय कहा है? यह स्पष्ट अत्याचार है। उसके अन्य राज्य-नियमो की सराहना करते हुए भी उसकी यह व्यवस्था त्रुटि से खाली नहीं है। खैर, कुछ भी सही, यह नाटककार का मानव-स्वभाव के संबंध मे वास्तविकता के प्रदर्शन का एक चित्र है।

आखिरकार हम अधिक न कहकर इतना ही कहना चाहते है कि 'अभिज्ञान' चित्रों का एक भारी संग्रह है, जिसके चित्र अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अच्छे और बुरे, दोनों ही तरह के माने जा सकते है। उसमे सच्चा और आदर्श प्रेम भी है और प्रेम का नाम लेकर भोली-भाली दुनिया को ठगने का व्यवहार भी। उसमे शोक-संताप और चिंताओं के दृश्य भी है तथा आनंद, प्रसन्नता और मनोरंजन के भी। राजसी ठाटबाट भी उसमे मिल सकता है और तपस्वी मुनियों की सादगी भी। इन सबके होते हुए भी उसमे आदर्श प्रेम की स्थापना है और वह नाटककार के उद्योग से फला-फूला भी खूब है।

यही है कवि के श्रम का प्रतिफल—सफलता।

भवभूति का

उत्तररामचरित

'उत्तररामचरित' में 'अभिज्ञान-शाकुंतल' की छाया बतलाकर कविवर भवभूति पर नकल करने का दोष लगाया जाता है। वे दोषी है कि नहीं, इस बात की विवेचना हमे यहा नहीं करनी है नहीं तो हम यह दिखलाते कि स्वाभाविक समानताओ का होना इस बात को प्रमाणित नही करता कि उनमे से एक वस्तु नकल है तथा उसका निर्माता नकलची अथवा चोर है। यदि रचनाओं मे भावो तथा चरित्रो की किसी प्रकार की समानता को अनुकरण का प्रतीक मान ले तो ससार के अनेक महाकाव्य झूठे ठहराये जाय। यूनान के 'इलियड' की कथा 'रामायण' से मिलती-जुलती है तथा गुलिवर्स ट्रैवल्स' की 'महाभारत' से—तो क्या यूनानी-साहित्य के लिये हमे उसके रचयिता के ऊपर चोरी का दोष लगाना ही पड़ेगा? यही क्यो, अभिनय-प्रथा का प्रचलन भी तो चीन, यूनान तथा भारतवर्ष मे प्राय: एक ही रूप रखता है। तो क्या यह सब एक-दूसरे का अनुकरण ही था? ऐसा नहीं। प्रत्येक देश की अभिनय-प्रथा का आरभ स्वतत्र रूप से ही हुआ और उसका विकास भी स्वतंत्र रूप से ही माना जाता है। अभिप्राय यह है कि अभिनयों के स्वरूप अभिन्न होने पर वे अनुकरण नहीं कहे जा सकते। प्रत्येक देश मे अभिनय-कला का विकास स्वतंत्र रूप से ही हुआ। खैर, इससे क्या, हमे तो केवल इतना ही कहना है—भवभूति को चोर कहनेवाले भारी भूल करते है। केवल समानता के कारण ही अनुकरण का दोष नही लगाया जा सकता। इतना ही नहीं, उनके पात्रो के चरित्रो से हम सिद्ध करेंगे कि भवभूति

का पथ स्वतन्त्र था—उन्हे कालिदास का अनुगामी कहनेवाले उनके साथ अन्याय करते है।

भवभूति के नायक पुरुषोत्तम राम ने भी कालिदास के दुष्यंत की भाति अपनी पत्नी का त्याग किया है और भवभूति के नायक का चरित्र आलोचनीय भी अवश्य है, परंतु वे दुष्यंत की भाति लपट तथा चरित्रभ्रष्ट नही हैं—वे मर्यादापुरुषोत्तम है। आप उनके सात्त्विक प्रेम मे मोह का नाम तक न पायंगे। वे सीता को चाहते है अवश्य, परंतु प्रजा की रुचि के लिये वे उसका परित्याग भी कर सकते हैं, एक दो दिन के लिये नहीं सर्वदा के लिये—तब तक के लिये जब तक कि प्रजागण स्वयं सीता को पवित्र स्वीकार न कर ले। यदि वे ऐसा न करे तो राम को मोही कहना पड़े। देखिये प्रेम नहीं तो और क्या है, बारह वर्ष सीता के वियोग में काट दिये पर सीता के अतिरिक्त पर-स्त्री का ध्यान मन मे किया ही नहीं। यज्ञ मे सीता की स्वर्ण-मूर्ति ही उनके लिये अलम् है।

हा, राम की इस महत्ता के साथ-साथ यहा पर उनका चरित्र आलोचनीय भी हो जाता है, परंतु 'शाकुंतल' के नायक की भाति सर्वथा स्याह नही। सीता के प्रति एक ओर तो उन्हें इतना विश्वास है कि उनके विषय मे कह जाते हैं—"तुम ही सो यह जगत होतु, सिय सब विधि पावन।" और दूसरी ओर दुर्मुख को एकदम डाट बताते हैं कि—

"अरे चुप, भला प्रजा के लोग दुर्जन किस तरह हो सकते हैं।" इन बातो से भवभूति के राम आजकल के शासकों जैसे प्रतीत होते हैं जिनके कान हैं; आखें तो मानो हैं ही नही। और यदि यह सब कुछ

भी है, तो भी प्रजा के असत्य बहुमत का उनको भारी भय है। देखिये—

"वासन्ती—तो आपने ऐसा अयोग्य कार्य कैसे किया" ?

"राम—क्या करूं दुनिया मानती ही न थी।"

इसे हम उनकी अभागी सीता के प्रति न्याय नहीं कह सकते। इस मौके पर तो भवभूति के लक्ष्मण भी 'रामायण' के लक्ष्मण नही रह जाते। राम के वन प्रयाण का समाचार, और उसके कारण उनका इतना क्रोध कि वे पूज्य पिता तक को सब कुछ कहने के लिये उद्यत हो जाते हैं, उनके न्यायपक्ष का चिह्न है; परंतु यहा सीता के ऊपर होते हुए अन्याय को देखकर भी उनकी बोलती बंद है। राम ने आज्ञा दी, वे उस बेचारी को निर्जन वन मे भटकते छोडकर लौट आये। क्या हम उन्हें पक्षपात से रहित कह सकते है ? खैर, लक्ष्मण के विषय मे हमे आगे ही कहना है, हम तो यह देखना चाहते है कि जिस आदर्श की रक्षा के लिये भवभूति एक अबला पर चहुंमुखी आपत्ति की भरमार कराते हैं वह वास्तव मे क्या था ? वह किस न्याय का पालन था, जिसके कारण सीता वन की आपत्तिया सहने के लिये विवश हुई ?

प्रजामनोरंजन के लिये एक सती साध्वी का इतना महान् तिरस्कार भवभूति के समय मे भले ही अच्छा माना जाता रहा हो, परंतु आधुनिक काल तो इस अन्याय के प्रतिकार के लिये कमर कसे बिना कभी न रहे। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि भवभूति के समय मे हिन्दू रमणियों का मान केवल पति की अच्छी-बुरी आज्ञाओं के पालने मे ही माना जाता रहा। अभागी स्त्रियों पर अबला समझकर ऐसे ही अन्याय हुआ करते रहे

होंगे, तभी तो उन्हे सीता को इतने महान् आपत्ति-सागर मे डुबाने का साहस हो सका। खैर, यह सब कुछ भवभूति के हाथों हुआ सही, परंतु इससे वे सर्वथा सम्मत हो, ऐसा कभी नही। राम का यह कार्य उनकी दृष्टि मे सर्वथा उज्ज्वल नही, तभी तो उन्होंने 'रामायण' के उस महान् नेता को सिसकिया भर-भर रुलाया है—एक क्यो अनेक बार रुलाया है। रुलाते-रुलाते बेहोश कर दिया है। उस काल के होते हुए भी भवभूति हमारे विचारो के पक्षपाती हैं। उनसे निरपराध तथा अबला कही जानेवाली स्त्रियो के प्रति घटनेवाली इस प्रकार की घटनाओ के कारण अत्याचारी अन्यायी पुरुषो का ऐसा कठोर आचरण देखा नहीं जाता।

परम पावनी सीता का इतना अनादर भवभूति से नही देखा गया इसका भारी प्रमाण सीता के प्रति वे वाक्य हैं जो उन्होंने जिस-तिस से सीता के प्रति कहलाये हैं। सीता अकेली तो नही। और कोई नहीं, भवभूति स्वयं उनकी पैरवी का प्रबंध करा देंगे। पावनी सीता को दोष दे कौन सकता है? जगद्वंदिता भागीरथी तथा माता वसुंधरा उनकी पावनता की साक्षी हैं:—

गंगा तथा पृथ्वी—"जगत को जब मंगलकारिणी।
फिरहु क्यों अपको अपमानती।
विमल पाय सिये तुव संग को।
बढ़त और हमार पवित्रता॥"

और लीजिये राम के सामने भी उनकी पवित्रता की साक्षी होकर वे उन्हे सौंपती हुई कहती हैं:—

"काहू विधि की शंक न तुम अपने हिय आनौ।
तुमहिं वसुमति त्रिपथगामिनी निश्चय जानौ॥"

राम की यह निष्ठुरता नाटककार को भायी नहीं। यही कारण है कि उनके जनक को राम पर इतना क्रोध आया कि माता कौशल्या के भी रोंगटे खड़े होगये।

जनक—"निरत वज्र सम घोर यह, सिय संग अनरथ पात।
आलोचत मम अति प्रबल क्रोधानल बढ़ि जात॥
समर माहिं कर चाप गहि, अथवा दै निज स्राप।
अन्याई को हनि अबहिं, उचित हरन संताप॥"

खैर, यह सब सही परंतु फिर भी राम अपनी सीता के लिये इतने पागल नहीं कि वे उसके पीछे सब कुछ ही भुला बैठे। सीता का विरह उनके लिये हर समय दुःखदायी है, परंतु वह उन्हे राजकाज से नहीं रोक सकता। सीता-वियोग का स्मरण कैसा ही हो, परतु शंबूक का वध करके वर्णाश्रम-व्यवस्था का पालन अवश्य किया जायगा। अधिक क्या—हम इतना ही कह सकते हैं कि राम कठोर होते हुए भी बड़े कोमलहृदय हैं। चिंतित तथा संतप्त होते हुए भी वे अत्यंत धैर्यवान् है। अति स्नेही होते हुए भी निर्मोही है। उन्होंने हृदय पर पत्थर रखकर सीता का त्याग तो किया परंतु केवल एक इच्छा से—"उनकी प्यारी प्रजा ऐसा चाहती है"। इस परोपकारमय वृत्ति मे कालिदास के लंपट दुष्यंत के चरित्र का आभास? हमने कहा राम का आलोचनीय चरित्र भी एक महान् आदर्श रखता है—नाटककार उनके चरित्र पर यह कहकर अभिमान कर सकता है कि नायक राम का आदर्श प्रेम केवल सीता के लिये है—उनका प्रत्येक पाठक यह स्वीकार कर सकता है कि वे प्रजाजनों के सच्चे पिता हैं।

आप सीता के प्रति दिखाई गई उनकी कठोरता ही क्यों देखते है। उनका पुत्रवत् प्रिय प्रजा के प्रति स्नेह भी तो देखिये ! यह आदर्श नही तो और क्या है ?

अच्छा अब तनिक जनक-दुलारी की ओर देखिये। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि भवभूति के समय स्त्रिया केवल अपने पतियो की मानसिक अभिलाषाओ का उपकरण मात्र रहीं होगी, नही तो क्या सीता राम से अपने न्याय के लिये कुछ भी नही कह सकतीं। वह समय शायद स्त्री-सम्मान की अवहेलना का ही रहा होगा, नही तो जगद्वंदनीया माता सीता के प्रति राम का यह कटु व्यवहार सहानुभूति की आखो से कभी न देखा जाता।

सीता करुण रस की मूर्ति है, उनकी विवशता पर आप आसू की दो-दो बूंदें गिराये बिना कभो न रह सकेंगे। निस्सहाया, निराधारा को वन मे किसके सहारे पर छोडा गया है ? राम का यह न्याय यदि प्रजा की मानसिक-अभिलाषा की पूर्ति के लिये हुआ है तो क्या सीता उनकी प्रजा नही ? मानो उस बेचारी पर वज्रपात ही है। आगे कवि की सहृदयता अवश्य कुछ-कुछ उस पर प्रतीत होती है। 'दिङ्-नाग[१]' आदि ने सीता का वन मे पहुंचाया जाना तथा लक्ष्मण—द्वारा उनको आश्वासन दिया जाना स्पष्ट दिखलाया है, परंतु भवभूति से इतना कठोर हृदय नही किया गया। इतना कठोर दृश्य उनके पात्र देखें, यह तो भवभूति चाहते ही नही।

अपने विषय मे सीता को हम किसी से कुछ कहते हुए कही नहीं देखते—अपने विषय में वे किसी को कोई सफाई देना ही नहीं

---

[१]—देखिये कुंदमाला नाटक

चाहतीं। ऐसा क्यो? देखिये—यदि ऐसा न होता तो सीता का चरित्र एक उपहास की वस्तु बन जाती। और उनकी सुनता भी कौन जब कि उनको निकाला ही राम ने है। नाटककार ने उनकी मान-रक्षा का पूरा-पूरा ध्यान रखा है इसी लिये उनके चुप रहते हुए भी उन्होंने उनकी उज्ज्वलता को अनेकानेक मुखो से प्रमाणित किया है। भगवती भागीरथी, माता वसुंधरा तथा विदेहराज जनक के चरित्रो की उपस्थिति से कवि केवल सीता-चरित्र की पवित्रता सिद्ध करना चाहता है। हा, इस संबध मे नाटककार के प्रति एक बात हमे अवश्य कहनी है—वह यह है—सीता की पवित्रता अनेक अनेक मुखो से सिद्ध हो चुकी तो फिर अरुधती के मुख से ऐसा क्यो कहलाया जाता है कि". .(प्रजा के लोगो) अब आपसे यह पूछना है कि ऐसी पुनीत पतिव्रता यज्ञ से उत्पन्न हुई परम प्रसिद्ध सूर्यवंश की वधू सीता देवी को फिर ग्रहण करना उचित है कि नहीं? इस विषय मे आपकी क्या सम्मति है?" क्या उनकी पवित्रता सिद्ध होने पर भी बार-बार प्रजाजनों से इस प्रकार पूछना उन्हें सीता के प्रति अनादर नही प्रतीत होता? शायद ऐसा करने से उनका अभिप्राय राम को प्रजा-प्रिय तथा प्रजेच्छानुगामी बनाकर दिखाने से हो। कुछ भी हो, उनकी सीता रामायण की सीता नही। वे राम को इतना कठोर होने पर भी हृदय मे धारण करती है। नाटककार की कल्पना दो वियुक्त हृदयों को फिर से मिला देती है।

भवभूति की सीता ऐसी प्रतीत होती हैं कि मानो राम की इच्छाएं ही उनकी इच्छाएं है तथा उनके सुख भी राम के सुखों मे निहित है। पातिव्रतधर्म का इतना उज्ज्वल उदाहरण संसार की किसी अन्य जाति मे क्या मिलेगा? सीता अपना उदाहरण स्वयं आप ही हैं।

राम के लघुभ्राता हमे कुछ ऐसे प्रतीत होते हैं कि मानों उनका काम केवल राम की आज्ञाओं का पालन करना है। सीता के वनवास के विषय मे वे बिल्कुल चुप हैं, वे तो मानो केवल राम के आज्ञापालक हैं। परंतु हा, जहा आवश्यकता होगी वहा वे भी चूकेंगे नहीं। वाल्मीकि-द्वारा रचित नाटक का अभिनय हुआ—गंगा तथा वसुंधरा ने रंग-मंच पर खड़े होकर स्पष्ट कर दिया—

"विमल पाय सिये तुव संग को
बढ़ति और हमार पवित्रता।"

तो लक्ष्मण क्यों चुप रहें—चुभते हुए शब्दो मे कह ही दिया—"महाराज, सुनिये ये देविया क्या कह रही है?" परंतु उनके लिये अधिक न कहकर हम इतना ही कहेगे कि उनके सामने केवल भ्रातृ-आज्ञा के पालन का आदर्श है, उस आज्ञा मे औचित्यानौचित्य का विचार करने के लिये उनके पास अवसर नहीं।

वशिष्ठ, जनक तथा माता कौशल्या की मूकता

मुनि वसिष्ठ, महाराज जनक तथा माता कौशल्या के देखते देखते ही यह सब कुछ हुआ, परंतु किसी ने भी उस महान् अनर्थ के विरुद्ध आवाज न उठाई। राजमाता वन जाते राम को तो यह कहकर रोक सकती है कि "बेटा तुमको पिता ने आज्ञा भले ही दी हो परतु मेरी आज्ञा के बिना तुम वन कदापि न जा सकोगे"—परंतु अबला सीता के लिये कुछ भी नहीं कहा जाता। ऐसे ही उस परम पावनी के पिता तथा सूर्य-कुल के वे कुलगुरु अपनी वाणी बंद किये बैठे हैं, जिसके लिये आप नाटककार से पूछ सकते हैं कि ऐसे

समय उनको क्यो मूक बनाया गया ? वे स्पष्टवक्ता ऐसे समय चुप क्यो हैं ?

सारी बात थी यह कि उनको ऐसा करने मे भय था कि नाटक मे करुणरस न रहकर कहीं वीर अथवा अन्य कोई रस जिसे वे लाना न चाहते थे आ जाता (वीररस हमने इसलिये कहा कि प्रतिद्वंद्व में वीररस ही झलक सकता है)। यदि वे ऐसा करते तो आप उनकी नायिका के प्रति इतनी सहानुभूति कभी न दिखाते। यही कारण है कि सीता के वन-गमन के समय इन सभी को मूक बना दिया गया है।

× × ×

कवि को सीता की पवित्रता का प्रकाशन अभीष्ट था—उसके लिये उसने आकाश, पाताल और मृत्युलोक को खोजकर पात्र उपस्थित किये हैं। माता वसुंधरा पातालवासिनी हैं तो विद्याधर तथा विद्याधरी आकाशलोक के विहारी। तमसा, मुरला, गोदावरी और भागीरथी नदिया तो हैं ही स्पष्ट स्त्रियो के वेष मे। समय-समय पर इनके द्वारा सीता के पवित्र चरित्र की प्रशंसा कराई गई है। भगवती भागीरथी तथा माता वसुंधरा ने उसे पवित्र कहकर स्पष्ट कर दिया कि "तुम्हारे संग से तो हमारी भी पवित्रता बढ़ती है।"

वाल्मीकि के शिष्यों—सौधातकि तथा भांडायन—और उनके आश्रम मे रहनेवाली ब्रह्मचारिणी आत्रेयी के चरित्रों से, नाटककार ने यदा-कदा मुनि वाल्मीकि के आश्रम की व्यवस्था, तथा भांडायन के द्वारा विवाद कराकर अपने विचारो का प्रकाशन किया है।

उसके विचार प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मार्ग वालो के लिये महोत्त अथवा गोवत्सरी की वलि के संबंध मे अलग-अलग हैं। प्रवृत्ति-मार्ग वालों को बलि दे दी जाये—निवृत्ति-मार्ग वाले दही और मधु का मधुपर्क स्वीकार करे।

मुनि वाल्मीकि का चरित्र तो सचमुच महात्माओ-जैसा ही है। उन्हे आप किसी की अच्छी-बुरी कहते कभी न पायेंगे। तपस्वी का किसी के अच्छे-बुरे से क्या संबंध? वे वच्चे (कुश-लव) उनके पास धरोहर रूप मे है—समय आयेगा और आशीर्वाद सहित उनके माता-पिता उन्हे पा जायेंगे। उनकी महान् गंभीरता उनके अनुरूप ही है। सारा रहस्य जानते पूछते, समय से पूर्व किसी को कुछ नहीं वतलाया जा सकता। महाराज जनक द्वारा लड़को (कुश-लव) के विषय में पूछे जाने पर यही उत्तर मिलता है—"समय पर सब बतला दिया जायेगा।"

उत्तररामचरित में विदूषक का अभाव

भवभूति की इस रचना मे विदूषक का कोई स्थान तथा हास्यरस की कोई व्यवस्था नहीं है। अभिनय करते समय रंगशाला मे उपस्थित जनो की प्रसन्नता के लिये हास्य की व्यवस्था भी कुछ आवश्यक सी वस्तु है, परन्तु भवभूति के यहा यह वस्तु क्यों नहीं? करुण तथा हास्य रस का पारस्परिक कोई संबंध नहीं। करुण रस में हास्य का प्रवेश उसके लिये प्रायः हानिकारक है। करुण रस की चीख-पुकारो मे हास्य का होना कभी-कभी करुणा की वास्तविकता को व्यर्थ कर देता है। यही कारण है कि 'उत्तररामचरित' मे उसके लिये कोई स्थान नहीं है। शोक-भरी आहो में विदूषक के मुख को देखकर यदि आपको हंसी

आ गई तो सारा किया-कराया बेकार हो जायेगा। यही कारण है कि उनके यहा न विदूषक का स्थान है न हास्य की व्यवस्था।

वर्णन-व्यतिरेक

करुणा की भी कोई सीमा होनी चाहिये। केवल हाय-हाय और शोक की पुकारो से ही नाटक के दर्शक, पाठक पात्रो के प्रति सहानुभूति दिखाने के लिये उद्यत नही होंगे। हाय-हाय और शोक-भरी आहे सीमा मे होनी चाहिये—यदि ऐसा नहीं है तो दर्शक खिन्न-चित्त होकर मुंह फेर लेगा।

भवभूति जब किसी के पीछे पड जाते है तो फिर छुटकारा कठिन ही होता है। सीता के कष्टो की कहानी आरंभ हुई तो उसे चैन नही लेने दिया और जब राम की बारी आई तो उन्हे जनस्थान मे ही दो बार रुलाते-रुलाते अचेत कर दिया। उन्हे रुलाते समय उनके मान-सम्मान तथा बड़प्पन का भी विचार कुछ नही किया। सातवे अक मे राम अपने कुश-लव के सामने ही रोकर पूछने को तैयार हो जाते है कि तुम किसके बेटे हो? उनकी रोती आँखो की बूंदो को देखकर लव को भी कहना पड़ा कि—

"जग मंगल-प्रद-वदन तुव, नयन नीर कन ढारि।
ओसबिन्दु-युत कंज की, करत मंजु उनहारि॥"

भले ही वे दोनों बच्चे अपरिचित है परन्तु बच्चो के सामने भवभूति के नायक का रोना शोभाप्रद नही। ऐसा करके उन्होने करुण रस का प्रवाह भले ही तीव्र कर दिया हो, परंतु राम के उदात्त चरित्र पर ऐसा रंग शोभा नहीं देता। किसी नाटक के धीर तथा शात नायक का इस प्रकार रोदन-क्रिया में निपुण होना शोभा नहीं दे सकता।

प्रकृति-वर्णन

भवभूति का प्रकृति-वर्णन अत्यंत सुन्दर है। आदि से अंत तक कुछ न कुछ प्रकृति के दृश्य आपको देखने के लिये मिल ही जावेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि विरहानल-व्याकुल चित्तो के विनोद के लिये बस एक यही साधन उनके पास है। क्या दंडकारण्य, क्या जन-स्थान, क्या गोदावरी-तट और क्या मुनि बाल्मीकि का आश्रम, सर्वत्र विरह-व्याकुल राम के लिये ये दृश्य ही आधार है।

"उत्तररामचरित" के प्रथम अंक मे राज-महल की चित्रशाला का वर्णन है। ये सब चित्र किस-किस के है? ये सब उन स्थानो तथा व्यक्तियो के है, जिनका संबंध रामायण की इससे पूर्व-कथा से है। यहा पर इनके प्रसग का अभिप्राय केवल इतना ही जान पड़ता है कि "उत्तररामचरित" के पाठक पूर्व-कथा से अच्छी तरह परिचित हो जायें और आगे की कथा को भली भाति समझ सकें। इसके अतिरिक्त यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि नाटककार के समय में इस प्रकार की चित्रकला का अच्छा मान रहा होगा और नाटककार स्वयं चित्रकला का प्रेमी होगा।

नाटक के ये दोष

कवि की महत्ता को स्वीकार करते हुए उनसे एक शिकायत भी की जा सकती है। उन्होने अपने दृश्यकाव्य में पद्यो की इतनी भरमार कर दी है कि नाटक कही-कहीं तो महाकव्य का सर्ग-सा बन गया है। नाटक मे पद्यात्मक रचना होनी चाहिये, यह ठीक है; परंतु फिर भी नाटक मे उसका आधिपत्य न हो जाना चाहिये। यदि ऐसा है तो

वह नाटक के प्रवाह की बाधा हो जायगी। पद्यात्मकरचना नाटक की मुख्य वस्तु नहीं; नाटक मे उसका स्थान गौण है। बाहुल्य उसके प्रवाह तथा उसकी सरसता को भंग कर देगा, इसमें संदेह नहीं। कहीं तो उत्तर-प्रत्युत्तर भी पद्यों मे ही हैं। पहला, तीसरा और छठा अंक तो ऐसे प्रतीत होते हैं कि मानो नाटककार केवल अपने कवित्व का ही प्रदर्शन करना चाहता हो। यह बात हम कालिदास आदि के नाटकों मे भी देखते है परंतु वहां इतनी बहुलता नहीं।

रंगमंच पर खेलने के लिये पात्रो के कथोपकथन मे लंबापन दोष माना जायगा। भवभूति के पात्र भी कहीं-कही व्याख्यान सा आरंभ कर देते हैं। कही-कहीं तो वे अपनी गद्य-पद्य-मयी भाषा मे धाराप्रवाह बोलते ही चले जाते हैं। गद्य के बाद पद्य, तो पद्य के बाद गद्य। परंतु यह दोष केवल उन्हीं के सिर नहीं मढ़ा जा सकता—उनके समकालीन नाटककारों ने भी ऐसा ही किया है। फिर भी दोष दोष ही है, 'उत्तररामचरित' मे यदि यह न होता तो अच्छा ही होता।

× × ×

इतना सब कुछ है सही, परंतु फिर भी उत्तररामचरित नाटको मे अपना ऊंचा स्थान रखता है, केवल इसी लिये नहीं कि उसका रचयिता प्रसिद्ध व्यक्ति है, बल्कि उसकी सरसता तथा माधुर्य ही उसके गुणों के परिचायक हैं। अपनी कर्तव्य-परायणता में कठोर होते हुए भी उनके पात्र हृदय रखते हैं। सीता को त्यागने मे, राजव्यवस्था के लिये तपस्वी शंबूक का वध करने में राम भले ही कठोर प्रतीत होते हों, परंतु करुणा से उनका हृदय सर्वथा रीता नहीं। वे कुलिश होते हुए भी फूल है—उनकी थाह न पाइयेगा।

कुलिस सोंहु कठोर अपार है,

मृदु प्रसूनहुं सो जिनको हियो।

अस अलौकिक जो जन जक्त मे,

सकत पाइ भला तिन थाह को ?

बस, उनके स्वभाव की यह अलौकिकता ही नाटक का सहारा है। इसी के आधार पर तो नाटककार ने उस चिर-वियोग के पीछे संयोग-सृष्टि की रचना करके इस चिरस्थायी प्रेम का दृश्य उपस्थित किया है। क्या ऐसा अटल प्रेम आदर्श नहीं ? कहिये ऐसा आदर्श आप अन्यत्र कहीं देख सकते हैं ?

प्रसाद का

'चंद्रगुप्त'

प्रसाद के नाटक एक प्रकार से इतिहास-अनुसंधान को लक्ष्य बनाकर चलते हैं। इस अनुसंधान में वे प्रायः इतने विस्तृत हो जाते हैं कि रंगमंच के योग्य तो रह ही नहीं जाते, साथ ही पाठक लोग भी उनका पाठ करते समय ऊब से जाते हैं। इस अवस्था में नाटकीयता का स्वरूप केवल कथोपकथन के रूप मे रह जाता है। इसमें संदेह नहीं कि नाटकीयता के अन्य अंग भी उनके यहां मिलेंगे। चरित्र-चित्रण, अंतर्द्वंद्व, वाह्य संघर्ष, चरित्र-विकास, आदर्श, काव्यत्व और कथोपकथन की सफलता, ये सभी वस्तुएं वहा प्रस्तुत होगी; परंतु रंगमंच के प्रति उपेक्षा का भाव उनके नाटक के अन्य सभी गुणों के मूल्य को कुछ कम अवश्य कर देता है।

उनके नाटकों मे इतिहास का गहन अध्ययन प्रत्यक्ष है। उनके आलोचकों का कहना है कि इस ऐतिहासिक अनुसंधान मे वे बौद्ध संस्कृति से प्रभावित रहे हैं। अपना विचार है कि यह कथन निराधार है। हम देखते हैं कि वे बौद्धधर्म के तंत्रवाद की समालोचना करते हुए वैदिक संस्कृति का पूर्णतया समर्थन करते हैं। भारतीय क्षात्र-धर्म के रक्षार्थ भारतीय वीरों की रक्तप्रवाहिनी तलवारों को देखकर उनका हृदय उमंगें लेता दिखाई पड़ता है। यदि उन्हे बौद्ध संस्कृति प्रभावित कर गई होती तो वे भारतीय क्षात्रधर्म की भी निंदा करते और मानवरक्तपिपासु खड्गों की भी। लेकिन ऐसा हम पाते नहीं; अतः यह स्पष्ट है कि साहित्य-निर्माण में उनकी धर्म-बुद्धि ने जो प्रेरणा

प्राप्त की उसमे बौद्ध संस्कृति का तनिक भी हाथ नही रहा। हा, साधु-वेश मे उनका कोई पात्र आत्मबलिदान के द्वारा अहिंसा का विरोध करे तो यह भी हमारी वैदिक सभ्यता के अंतर्गत ही है—उस वैदिक सभ्यता के जिसमे राजवर्ग को छोड़कर, शेष के लिए हिंसा को अहिंसा से और पशुता को मानवता से जीतने का उपदेश दिया है। अस्तु!

प्रसाद के प्रमुख नाटकों में चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, नागयज्ञ, अजातशत्रु, राज्यश्री, कामना आदि के नाम लिये जा सकते है। इनमे कामना एक काल्पनिक नाटक है। शेष नाटको का आधार ऐतिहासिक है। स्कंदगुप्त और चंद्रगुप्त उनके बड़े नाटक है। और इन दोनों मे से चंद्रगुप्त के संबंध में तो इनकी अन्वेषक बुद्धि ने एक विशेष ही नाम प्राप्त किया है।

प्रसाद के नाटक कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है। उनके नाटक पात्रों का निर्माण करते है; उन पात्रों का जो नाटक की गति-विधि मे, उसकी उद्देश्य-पूर्ति मे, स्वयं सक्रिय से प्रतीत होते है। यही बात उनके चंद्रगुप्त के विषय में स्पष्ट है।

भारतीय इतिहास मे चंद्रगुप्त की महत्ता देश की महत्ता का द्योतक है। दुर्भाग्य से हमारे इतिहास की प्रभूत सामग्री नष्ट हो जाने से पाश्चात्य इतिहास-लेखकों को इस संबंध मे मनमानी कल्पनाएं गढ़ने का अवसर मिला है। इतनी निराधार कल्पनाएं और बेढंगे विवरण इस चरित्र के साथ जोड़ दिये गये है कि उसकी वास्तविकता का महत्त्व सरलता से जाना ही नही जा सकता। प्रसाद जी ने अपने इस नाटक मे इतिहास की टूटी-फूटी सामग्री को जोड़कर चंद्रगुप्त के वास्तविक चरित्र को प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। शताब्दियों

का यह भ्रम कि चंद्रगुप्त मुरा नाम की दासी का पुत्र था, वह नीचजन्मा जारज था, प्रसाद जी के परिश्रम से सर्वथा दूर हो गया है।

प्रसाद का चंद्रगुप्त मोरिय क्षत्रिय जाति के, मगध के एक सेनापति का पुत्र है। उसके हृदय मे किशोरावस्था से ही स्वतंत्र राज्य-सस्थापन की इच्छा उत्पन्न हुई है। पंजाब में तक्षशिला के बिश्वविद्यालय में, उसकी शिक्षा-दीक्षा होती है। चाणक्य भी, जो कि स्वयं मगध का वासी है, यहीं से चद्रगुप्त का आत्मीय बन जाता है। देश की अवस्था इस समय इतनी बिगड़ी हुई है कि उसके गण-राज्य अपने-अपने अभिमान में किसी दूसरे को कुछ समझते ही नहीं। मगध की आंतरिक अवस्था तो और भी बुरी है। मद्यप, विलासी राजा को अपने कर्त्तव्य का कुछ ध्यान ही नहीं। ऐसे बिगड़े हुए ढाचे को देखकर अनेक विजयो से मस्त, विश्वविजय की लालसा मे मदमाते सिंकदर के हृदय मे भारत-विजय की लालसा उमड़ती है। देशद्रोही आंभीक का सहारा पाकर सिकंदर आक्रमण करता है। पौरव से टक्कर होते ही उसकी आखें खुल जाती हैं। भारतीयो का युद्ध-कौशल और पौरव का आत्माभिमान उसे सावधान कर देता है।

इसी बीच मे विश्वविजेता पर और उसकी सेना में चंद्रगुप्त के पराक्रम और उसके अधीन हो गये हुए मगध की सैनिक-शक्ति का आतंक भी छा जाता है। सिकंदर आगे न बढ़कर देश की ओर लौट पड़ता है। लौटते समय मार्ग में ऐसी बाधाएं आ जाती हैं कि वह एक लडाई मे बुरी तरह घायल हो जाता है; अतः लौटता हुआ देश पहुंचने से पहले ही मार्ग में मर जाता है। इस समय मगध का शासन चंद्रगुप्त के सुदृढ़ करों में है। अमात्य चाणक्य की कूटनीतिक छाया मे वह परिपुष्ट हो रहा है।

सिकंदर के आक्रमण से लगभग २० वर्ष पश्चात् उसके भारतीय उपनिवेश का स्वामी सिल्युकस मगध पर आक्रमण कर देता है। मगध

की चतुरंगिणी सेना के सामने उसके पैर उखड़ जाते हैं। यह हार सिल्युकस को बहुत महंगी पड़ती है। संधिपत्र लिखा जाता है और कौटिल्य-बुद्धि से यूनानी सम्राट् को अपनी पुत्री चंद्रगुप्त को देनी पड़ती है। दूसरे शब्दों मे कहिए कि सिल्युकस के हाथों विजयी भारत पराजित यूनान का जामाता बना दिया जाता है। चाहे तो इसे सिल्युकस का दुर्भाग्य कह लें चाहे कौटिल्य की कूटनीति का कौशल; परंतु प्रसाद की दृष्टि मे तो यह उसके चद्रगुप्त की विजय थी—गौरव-गरिमान्वित भारत की विजय थी। बस यही प्रस्तुत नाटक की कथा का सार है।

नाटक के प्रमुख पात्र

प्रस्तुत नाटक के भारतीय पुरुष पात्रों मे चंद्रगुप्त, चाणक्य, आंभीक, पौरव, सिंहरण, नंद, वररुचि, शकटार और राक्षस का नाम विशेष स्थान रखता है।—स्त्री-पात्रों मे कल्याणी, मालविका और अलका का अच्छा महत्त्व है। यवन पात्रों में सिकंदर, सिल्युकस, फिलिप्स और मेगास्थनीज प्रसिद्ध पुरुष-पात्र हैं और कार्नेलिया स्त्री पात्र। इस नाटक का नायक चंद्रगुप्त है, क्योंकि कथावस्तु प्रायः उसी से सम्बद्ध है और फल भी उसी को प्राप्त होता है। इसकी नायिका है यूनान-कुमारी कार्नेलिया, क्योंकि वह आदि से अंत तक भारत की प्रशंसक रही है और अंत में कथा-नायक की धर्मसंगिनी बन जाती है। प्रतिनायकत्व में सिकंदर आरंभ मे अवश्य प्रमुख है, परंतु कथा का वह प्रमुख संघर्ष जिसके अंत में फल प्राप्ति होती है वह संबद्ध रहा है सिल्युकस के जीवन से। अतः प्रतिनायक सिल्युकस को ही माना जायगा।

नाटककार ने नायक के चरित्र को जिन उज्ज्वल शब्दो मे अंकित किया है उनका वह सर्वथा अधिकारी है। प्रसाद का चंद्रगुप्त मुद्राराक्षस और द्विजेंद्रलाल रायके चंद्रगुप्त की भांति चाणक्य के हाथो की कठपुतली कदापि नही रहा। उसका अपना एक निराला व्यक्तित्व है, उसकी एक गौरवमयी सत्ता है; छात्र-जीवन में ही उसके भविष्य का कार्य-क्रम निश्चित हो जाता है और उसका एक-एक क्षण उसी की सिद्धि-साधना में व्यतीत होता है। उसकी कर्तव्य-निष्ठा का भी अपना एक स्थान है। उसके अलौकिक रूप-माधुर्य मे संसार के सौंदर्य को विचलित कर देने की पूर्ण सामर्थ्य है, उसका वैभव भी कुछ कम नही। साहस तथा बुद्धि भी उसके परमोपासक हैं। इन्हीं अलौकिक गुणों से उपेत होने के कारण एक ओर गाधार-कन्या उस पर मुग्ध है, और दूसरी ओर कल्याणी। और कार्नेलिया का तो कुछ पूछिये ही मत। परंतु हम देखते हैं कि कर्तव्य-पथ का पथिक वह चंद्रगुप्त अपने मार्ग में अबाध गति से बढ़ा है। न उसे रूप की शक्ति वश मे कर सकती है, न किसी सांसारिक प्रेम की। क्यो न हो; उसे चाणक्य जैसा गुरु मिला है जिसने उसे केवल अक्षर-ज्ञान ही नहीं दिया अपितु उसके साथ साथ राजनीति का पाठ भी दियां है—उस राजनीति का जिसमे स्वदेश, स्वचरित्र का गौरव भी भली भांति समझा दिया गया है। प्रसाद का विद्यार्थी चंद्रगुप्त राजनीतिक-जीवन से संबद्ध है, इसमें ऐसा जान पडता है कि नाटककार स्वतंत्रता-आंदोलन के विद्यार्थियों से—उनके आधुनिक जीवन से—बहुत प्रभावित रहा है।

आंभीक और पर्वतेश्वर, इन दोनों के चरित्र एक दूसरे के सर्वथा विपरीत रहे है। पहला पक्का देश-द्रोही तो दूसरा पक्का देशभक्त है। आभीक अपने युग का जयचंद है—बस इससे अधिक उसकी व्याख्या ही

क्या हो सकती है—वह देश और जाति का कलक है। पर्वतेश्वर के महान् गौरव को देखना हो तो सिकंदर के प्रति उसके उस उत्तर को स्मरण करना चाहिये जिसमें वह कहता है—"सिकंदर, मेरे साथ वही व्यवहार करो जो एक राजा दूसरे के साथ किया करता है।" परंतु खेद है कि प्रमाद ने इस महत्त्वपूर्ण पात्र का अंत बडी बेदर्दी से कर डाला है। एक नहीं एक साथ दो हत्याएं—पर्वतेश्वर के साथ कल्याणी का भी अत—सहृदयता की बात नहीं बन पडी है। नाटककार चाहता तो उन पात्रों का यह चित्र बदल भी सकता था। संभवतया नाटककार ने यहां उपन्याससम्राट् प्रेमचद की शिक्षा ग्रहण की है। वहा पर भी ऐसे पात्रों को जिनका आगे कोई विशेष उपयोग न हो—बडी बेदर्दी से समाप्त कर दिया जाता है।

आभीक का भविष्य बनाने के लिए नाटककार के प्रति स्वय आभीक को कृतज्ञ होना ही पड़ेगा। वह देशद्रोही आखिर एक दिन अलका का सच्चा भाई और चाणक्य का सच्चा आज्ञाकारी बनकर अपने कलंक को धो देता है।

सिंहरण का चरित्र भी चाणक्य के साथ 'देह के साथ छाया' के तुल्य है। यह मालव-कुमार कितना साहसी, पराक्रमी, उत्साही और निर्भीक है। गाधार का पतन—उसका देशद्रोह—उसको कितनी चोट दे गया है, यह उसी से पूछो। हम तो इतना जानते है कि उसके जीवन मे राष्ट्रीय भावना ओत-प्रोत है। गाधार के पतन को अपना पतन मानता हुआ वह कहता है—"मेरा देश मालव ही नही गाधार भी है।" और क्या—"समग्र देश आर्यावर्त है।"

मालव-दुर्ग पर आक्रमण करता हुआ सिकंदर सिंहरण के हाथो घायल हो जाता है। यवन-सैनिकों को सिंहरण आदेश देते है—"अपने

आहत सम्राट् को उठा ले जाओ।" जनता उस नृशंस आक्रमणकारी को वहीं समाप्त कर देना चाहती है। सिंहरण के महत्त्व को समझना हो तो उसी समय के जनता के प्रति कहे गये उसके ये शब्द दोहरा-कर देखने चाहिएं—"ठहरो मालव वीरो ठहरो! यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था; पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रति-उत्तर है।" अधिक क्या कहे, देश के लिए जीने और उसी के लिए मरने को उद्यत रहनेवाले इस पात्र के प्रति प्रत्येक हृदय मे गौरवमय स्थान होगा।

वररुचि, शकटार, नंद और राक्षस का भी यथोचित रूप से अच्छा चित्रण हुआ है। वररुचि का शास्त्रीय ज्ञान उसके चित्रण मे प्रतिबिंबित है। शकटार की प्रतिशोधपूर्ण बुद्धि भी अच्छे रूप में चित्रित हुई है। नंद का विलास-वैभव उसके साथ मे देश के लिए क्या फल लाया इसे भी अच्छे रूप में प्रस्तुत किया गया है। राक्षस अलबत 'चंद्रगुप्त' मे यथानाम तथागुण नहीं बन पाया है। प्रसाद के राक्षस मे वह बल कहां है जो विशाखदत्त के राक्षस में है। हां, दांडायन की निर्भीकता का चित्रण उसके गौरव के अनुकूल ही बन पड़ा है।

चाणक्य का गौरव क्या है? इसके उत्तर मे यदि संक्षेप से कह दिया जाय तो इतने ही शब्द पर्याप्त होंगे—"प्रत्यक्ष मे जो चंद्रगुप्त है परोक्ष में वही चाणक्य है।" चंद्रगुप्त के चरित्र मे जो भी घटनाएं घट रही हैं उन सब का सूत्रपात चाणक्य के द्वारा हो रहा होता है। यह एक अलग बात है कि कहीं वह रंगमंच पर प्रत्यक्ष है और कहीं पर्दे के पीछे—'परोक्ष'

यवन-पात्रो मे सिकंदर और सिल्युकस दोनो ही के चरित्र पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। सिकंदर जैसा वीर है, वैसा ही वीरत्व का पारखी और

सम्मानदाता भी। नीति-पारखी वह चाणक्य जैसा भले ही न हो, परंतु स्थिति को समझने की बुद्धि उसमे अवश्य है। उसके सैनिको ने मगध की ओर बढ़ने से इनकार कर दिया तो उसने उसके कारण और फल को अच्छी तरह समझकर लौट जाना ही अधिक उचित समझा। कोई और शासक होता तो अपने हठ के पीछे कदापि न पीछे हटता। नाटक में उसकी लूट, हत्या और उसके अनाचार का जो चित्र प्रस्तुत हुआ है उसकी वास्तविकता में कोई संदेह नहीं किया जा सकता। तभी तो नाटककार भी उससे इतना चिढ़ गया है कि उसका सिल्युकस भी उसी अपने सम्राट् को आभीक, एनिसाक्रिटीज और फिलिप्स आदि के सामने ही उसे अविवेकी विशेषण से अभिहित करता है। अधिक क्या, नाटककार ने उसका कोई भी पहलू छिपाकर नहीं रखा है। यही दुर्जन-स्तुति है जिसमे सत् और असत् दोनों ही प्रकाशित कर दिये गये है। इसी लिये हमने कहा कि नाटककार ने उसके चरित्र पर अच्छा प्रकाश डाला है।

सिल्युकस की वीरता भी उसे अपने स्वामी से उत्तराधिकार मे प्राप्त रही है। यह दूसरी बात है कि उसका भाग्य ऐसा खोटा निकल जाय कि सिकंदर के आक्रमण के २० वर्ष के भीतर ही उसे भी भारत-विजय की धुन सवार हो और दुर्भाग्य से हारकर विजेता के नाम पर कन्या का संकल्प छोडना पड़े। वस्तुतः इस बीच चंद्रगुप्त के सुशासन में मगध-साम्राज्य भी वह महती शक्ति बन चुका था कि उससे टकराकर उसे अपना ही मस्तक भंग करना पड़ता। यही कारण है कि मगध-विजय के लिए भरा हुआ उत्साह कन्यादान की तैयारी मे बदल जाता है। और इसमे दुर्भाग्य की बात भी कुछ नहीं। विजय प्राप्त कर लेता तब भी एक समारोह मनाया जाता और हार गया तब भी अच्छा खासा उत्सव

हो गया। समारोह के साथ सभा-मंडप सजाया गया, सिल्युकस भी उसमें निमंत्रित कर लिए गए; और मनचाहा वरदान मिला कार्नेलिया को कि चंद्रगुप्त का वह विशाल विजय-मंडप 'विवाह-मंडप' बन गया। और कितना अच्छा भाग्य रहा उस सिल्युकस का कि इस दुर्भाग्य की घड़ियों मे भी उसे दामाद मिला मगध-पति चंद्रगुप्त सा सम्राट्। और ऐसा हो भी क्यों न; आखिर इस महायज्ञ के आचार्य भी तो रहे आचार्य चाणक्य जैसे महात्मा न! उनके जाचे हुए नक्षत्र-मुहूर्त में भला किसकी मनोकामना अपूर्ण रह सकती थी? सिल्युकस का भाग्य तो सराहने योग्य रहा ही; साथ ही चाणक्य का महत्त्व भी तो स्वीकार करना पड़ेगा। धन्य है ऐसे उदार ब्राह्मण को जिसने न जाने कब के भटकते हुए दो हृदयों को मिला दिया। कार्नेलिया, सुखी रहो इस वर को पाकर—धन्यवाद दो भगवान को! और हम नतमस्तक होकर अभिनंदन करते हैं अपने कुटिल कलाकार चाणक्य का जिसने इसके अतिरिक्त सुवासिनी का सहवास देकर जीवनभर के लिए मनुष्य नहीं बल्कि राक्षस तक को सफलकाम किया।

मानवता की प्रतिमूर्ति कार्नेलिया में कवि की प्रेमप्रतिभा सिमटकर आ बैठी ज्ञात होती है। उसके जीवन का विश्व-प्रेम कवि के विचार-कोमलत्व का प्रतीक प्रतीत होता है। उसका भारत के प्रति प्रेम हमे उल्लसित करता है; परंतु जब हम देखते हैं कि संधि की शर्तों मे उसे भी साधारण वस्तु की भाति दाव पर लगा दिया जाता है तो नारी की विवशता देखकर जी तिलमिला उठता है। इस घटना की ऐतिहासिकता मे तनिक संदेह नहीं; परंतु संधि की शर्तों मे कार्नेलिया के पाणिग्रहण की बात चंद्रगुप्त की वासना-तृप्ति का साधन होने के अतिरिक्त और कुछ भी नही जान पड़ती। नाटककार यहां पर चंद्रगुप्त की इस भावनाओं को दबाने मे

असमर्थ रहा है। इस स्थल पर हम कार्नेलिया को चंद्रगुप्त से कहीं अधिक महान् पाते हैं। वह अपने पिता की अनिच्छा पर भी अपनी बलि देकर युद्धजनित एक महान् रक्तपात को रोक लेती है। नाटक की युद्धरत प्रवृत्तियों के मध्य शांतिदूतिका कार्नेलिया के चरित्र की इससे बढ़कर व्याख्या हो ही नहीं सकती।

अलका और कल्याणी मे से नाटककार की सहानुभूति का झुकाव अलका की ओर ही रहा है। केवल नंद-कन्या होने के कारण उसके चरित्र की इतनी भद्दी व्याख्या उचित नही कही जा सकती। प्रेम और वासना प्राणि-जगत् का 'चिरंतन-सत्य' है। उसे दोष ठहराकर किसी चरित्र को हेय सिद्ध करना कोई न्यायसंगत बात नही। उसकी आत्म-हत्या इतिहास की वास्तविकता है या कवि की कल्पना, हमें इसकी विवेचना नही करनी है। लेकिन इतना कहने मे कोई संकोच नही किया जा सकता कि कल्याणी के प्रेमादर्श का उचित मूल्य देने मे नाटककार असफल ही रहा है। कल्याणी की मृत्यु से चंद्रगुप्त और कार्नेलिया का प्रेम-मार्ग तो अवश्य प्रशस्त हो जाता है; परंतु कल्याणी की प्रेमभरी बातों का उत्तर देता हुआ चंद्रगुप्त कपटी साधु से अधिक कुछ भी नहीं जान पडता।

अलका का चित्रण आंभीक की काया-पलट करने के उद्देश्य से सर्वथा सफल रहा है। अलका को राष्ट्र की मान-मर्यादा की रक्षा के लिये सक्रिय आंदोलन मे भाग लेते देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि नाटककार भारत के स्वातंत्र्य-युद्ध मे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन में देश की नारियों के सहयोग का चित्रण करने के लिये प्रस्तुत हुआ है। उस वीर बालिका की सरलता और बुद्धिमत्ता उसके चरित्र के गौरव है। नाटककार ने उसके मुख से यह कहलाकर—राज्य किसी का नही, सुशासन

का है—उसके चरित्रमे महान् राजनीतिक गौरव की महत्ता उत्पन्न कर दी है।

इस रूप मे, हम देखते है कि, "चंद्रगुप्त" का प्रत्येक पात्र अपने जीवन की एक विशेषता रखता है। उसका प्रत्येक प्राणी नायक की सिद्धि का संपादन करने मे संलग्न है।

चंद्रगुप्त—रंगमंच की दृष्टि से

हम पहले ही बता चुके हैं कि प्रसाद के नाटक इतिहास-अनुसंधान का मोह लेकर उठे हैं। इस दृष्टि से उनका अपना एक गौरव है। प्रसाद को इस बात की चिंता ही कहा कि उनके नाटक रंगमचके उपयुक्त बन सकें। उन्होंने नाटक प्रस्तुत कर दिया, यही उनका अपना कर्त्तव्य था, सो इसे उन्होंने पूर्ण कर दिया। अब यदि रंगमंच को उनके नाटको की आवश्यकता हो तो वह स्वयं को उन नाटकों के अनुकूल बना ले। निःसंदेह नाटककार की ऐसी धारणा मे आत्माभिमान झलका पड़ता है, परंतु यहा उसे यह नहीं भूल जाना चाहिये कि नाटककार की कला और रंगमंच दो पृथक् वस्तुएं नहीं है।

'चंद्रगुप्त' के पात्र अपना निराला व्यक्तित्व रखते हैं। उनके कथोपकथन मे उनका महान् आदर्श प्रतिबिंबित रहता है। अंतर और बाह्य संघर्षों का जितना सुंदर स्वरूप उनके पात्रों के जीवनों मे व्याप्त है उतना इस काल के शायद ही किसी अन्य नाटककार के पात्रों में हो। कलाकार की तार्किक, नैयायिक बुद्धि उन्हे इतना शक्तिशाली बना देती है कि वे किसी भी कठिन उलझन मे अपना मार्ग बनाकर आगे बढ़ सकते है। यह सभी कुछ उसमे है; परंतु रंगमंच की दृष्टि से उसका क्या स्थान है, इसे तनिक विस्तार से सोचना है।

चार अंकों के चौवालीस दृश्यों वाले इस नाटक की कथा लंबी-चौड़ी तो है ही है, साथ ही उसके ऐतिहासिक विवरण भी बड़े जटिल से बन पड़े हैं। नाटककार ने उन्हे सीधे-सरल ढग से प्रस्तुत करने का प्रयास ही कहीं नहीं किया। रहस्यवादी कवियों की भाति उन्होंने भी प्रत्येक बात—प्रत्येक घटना—को इतना पेचीदा बना दिया है कि रंगमंच-वालों को भी एक बार तो अपने रहस्य-गुरु के सामने माथा टेकना ही पड़े।

प्रसाद के कथोपकथन भी बहुत लंबे-लंबे होते हैं। कहीं-कही तो उनके पात्र इतने बड़े-बड़े भाषण दे डालते है कि उन्हें देखकर पाठक भी यह भूल जाता है कि वह नाटक पढ़ रहा है या कोई व्याख्यान। फिर इन पात्रो की संख्या भी इतनी अधिक होती है कि कथा के अंत तक उनके नाम भी पूरी तरह याद नही रह जाते। ये दोनों बातें उनके चंद्रगुप्त मे भी मिलती हैं।

प्रसाद जी का दार्शनिक अध्ययन भी बहुत गहन था। उनके निबंधो और पद्य-काव्यो मे यह बात अच्छी तरह देखी जा सकती है। इसी दार्शनिकता का प्रभाव उनके नाटकों पर भी पड़ा है। और चंद्रगुप्त मे तो भाग्य से सचमुच ही एक दार्शनिक आ गया है; पाठक उसे दांडायन के नाम से भली भाति जानते भी होंगे। रंगमंच पर, जहा दर्शकों में विद्वानों की अपेक्षा साधारण पढ़े-लिखे ही व्यक्ति अधिक जाते हैं, वहां पर इन नाटकों की दार्शनिक बुद्धि का सदुपयोग कहां तक है, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

प्रसाद संस्कृत तत्समता के कट्टर पक्षपाती थे। इसलिए उनकी रचनाएं सरल नही रह गई है। चंद्रगुप्त में भी उनकी उसी जटिल

भाषा का प्रयोग हुआ है; और फिर जहा वे लाक्षणिकता के चक्कर मे पड़ गये हैं, वहा तो और भी दुरूहता उत्पन्न हो गई है।

चंद्रगुप्त मे कविता का भी सुंदर और उचित मात्रा मे प्रयोग हुआ है; परंतु यह निःसकोच होकर कहा जा सकता है कि उसका प्रणयन एक साधारण कवि के द्वारा न होकर एक रहस्यवादी कवि के मस्तिष्क से हुआ है। रंगमंच के दर्शक के लिए उसका उपयोग किस सीमा तक संभव है, यह बताना हमारे लिए कठिन है।

इन छोटी-मोटी त्रुटियों के रहते हुए भी यदि चंद्रगुप्त को काट-छांटकर रंगमंचोपयोगी बना लिया जा सके तो इसमे संदेह नहीं कि वह भारतीय वीरता और सभ्यता का एक महान् संदेश-दाता सिद्ध हो। कोई स्वाभिमानी युवक उससे जीवन-निर्माण की प्रेरणा ले सकता है, उसका सदेश किसी दर्शक को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकता। चद्रगुप्त हमारे अतीत का वह महान् नेता था जिसने संसार मे भारत की चोट खाई हुई प्रतिष्ठा का पालन किया था। पाश्चात्य इतिहासकारो ने उसके गौरव को छिपाये रखने में ही अपने पाडित्य का उपयोग किया था। नाटककार प्रसाद ने उसके वास्तविक गौरव को प्रकाश मे लाकर हमारा महान् उपकार किया है। इस रूप मे यह ऐतिहासिक रूपक-रत्न, जिसमें उसके रचयिता की इतिहासज्ञता और कलात्मक-बुद्धि का सुंदर समन्वय हुआ है, हमारे साहित्य की अनुपम निधि मे सदैव अमर रहेगा।

बंधन

बंधन कल्पना-प्रसूत नाटक है और उसकी कल्पना का आधार है वर्तमान पूंजीवाद तथा निर्धन-मजदूरवर्ग का शोषण। पूंजीवाद ने जनता मे दो वर्ग उत्पन्न कर दिये है। एक वर्ग है निर्धन, भूखो मरनेवाले मजदूरों अथवा छोटे कृषको का और दूसरा वर्ग है उन्हे चूसनेवाले मिल-मालिकों तथा बडे-बड़े जमींदारों का। बंधन एक प्रकार से हमारे वर्तमान युग का चित्र बन जाता है। क्योंकि इसकी कल्पना ही हमारा वर्तमान है। शोषितवर्ग तंग आकर शोषकवर्ग के विरुद्ध अपने अधिकार पाने के लिये वैध उपायो से आदोलन करता है। और शोषकवर्ग उसकी बुरी तरह से अवहेलना ही नहीं करता, अपितु शासक-वर्ग का आधार लेकर उसका संहार करने पर भी उतारू हो जाता है। मजदूर उस अत्याचार का मुकाबला अहिंसा और सत्याग्रह के सिद्धांतो पर करता है। वह अपनी बलियाँ चढ़ाता हुआ निराश नहीं हो जाता अपितु पूर्णाहुति—सर्वस्व-बलि के लिये भी वह प्रस्तुत हो जाता है। अंत मे सत्य की विजय होती है।

किसी समाज मे सभी व्यक्ति एक ही विचार के नहीं हुआ करते, इसी लिये तो नाटक के मजदूर-वर्ग मे भी प्रस्तुत पात्रो में कही-कहीं हिंसा प्रबल हो उठी है। बस इसी वर्तमान गाधीवाद मे—असहयोग में—क्रातिकारी दल की यह थोड़ी सी झलक है।

इस कथा का नायक है मोहन। स्वार्थी समाज की व्यवस्था का मारा यह शिक्षित बंदा नगरो की मजदूर कहलानेवाली जाति को देख-

कर सिहर उठता है और अपने चैन-आराम का परित्याग करके उन्हें संगठित करके आदोलन के लिये तैयार करता है ।

सेठ खजांचीराम की मिल के मजदूर महंगाई के कारण वेतन-वृद्धि चाहते हैं। मालिक माग स्वीकार नहीं करता। आदोलन गर्म हो जाता है। मजदूर हड़ताल कर देते है, मिल पर पिकेटिंग हो जाती है। सेठ उन पर गोलिया चलवा देते हैं। बस वहीं से विरोध जोर पकड़ जाता है। यह गोली-कांड राय बहादुर के बेटा-बेटी को विरोधी-दल का हमदर्द बना देता है। मालती, आंदोलन के नेता मोहन के लिये सब कुछ न्यौछावर करने के लिये तुल जाती है। बस यहीं से कहानी के इस रौद्र-रस मे प्रेम का सचार हो जाता है। मालती, नायक के लिये चोरी भी करती है, पिता से अच्छी-बुरी भी सुनती है पर प्रेम-पथ से डिगती नहीं। अंत तक वह उन्हीं की शुभ-चितना मे लीन रहती है।

यों तो आंदोलन की प्रेरणा सरला-द्वारा होती है। उसे दुःखी देखकर ही तो मोहन बाबू बेचैन हो उठते है परंतु यदि ध्यान से सोचा जाय तो प्रतीत होगा कि इसका संपूर्ण संचालन मोहन तथा मालती द्वारा हुआ है। सरला, मोहन बाबू के लिए यदि प्रेरणा है तो मालती उसी मोहन के लिए सहायता; वह सहायता, जिसमे त्याग और मोह दोनों ही साथ-साथ रमे हुए है। नाटककार ने एक आड़े समय मे मोहन बाबू के निर्जीव शरीर मे प्राण-प्रतिष्ठा करने के लिये ही तो उसे पैदा किया है। नाटक मे मालती का चरित्र-चित्रण रेतीली सतह पर रसमय सरस्वती प्रवाहित करता है।

सरला तथा मालती की यदि तुलना की जाय तो संक्षेप में इतना ही कहना काफी होगा कि यदि एक आदर्श सेवा-पथ की राहगीर है तो दूसरी सच्चे प्रेमपथ की राही। सरला के कार्यक्रम में सेवाभाव अंत-

निहित है, उसका अपना अस्तित्व सेवाधर्म मे विलीन हो गया है। नाटककार ने उसका प्रयोग, जहा भी देखिए, इसी रूप मे किया है। कहीं वह मजदूरों को अहिंसा-पथ का पाठ सिखाती है। कहीं मजदूरों के बच्चों को साम्यवाद का पाठ पढ़ाती और उन्हे प्रसन्न करने के लिये गाना सुनाने को अपने साथ ले जाती है। कहीं वह प्रकाश को शराब छोडने की शिक्षा दे रही है तो कही मजदूरो को कचहरी की ओर जाने से रोक रही है। अधिक कहा तक कहें, आदोलन की भावना को स्वच्छ, पवित्र तथा श्रेयस्कर रखने के लिये मोहन की अनुपस्थिति में सारा भार नाटककार ने उसी अबला के कंधों पर डाला है। उसके वैधव्य की याद हमें सताती है और उसके साहस से हमें धैर्य मिलता है। हा, नाटक मे उसकी अतिव्यापकता सी अवश्य प्रतीत होती है।

मालती का मोहन की ओर आकर्षण नाटक की रुकी धारा में एक बहाव पैदा करता है। यहा से कहानी का प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कुछ गूढ़ हो जाता है, हम समझते है इससे आगे मोहन का त्याग मालती के लिये है। हां, परिणाम में इकट्ठा होकर मजदूर-वर्ग के लिये भी वह कल्याणकारी हो जाता है। यही तो नाटककार की कला है। उसने अपने नायक-नायिका की वासना को नंगा होने से पूरी तरह बचा लिया है।

जेवरों की पोटली की चोरी को वह अपने ऊपर किसी विशेष उद्देश्य से ही लेता है। वह बहुत कहने पर भी चोर का नाम बताने को तैयार नहीं, परतु यह कहने में भी कि "चोर मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय है" कितना रहस्य और कितना आनंद है। बस यही एक तीर था, जो लक्ष्य बेध गया। मजदूरों के लिये दया लुटानेवाला हृदय तभी से मोहन के लिये बिक चुका। अब, वह मालती जो कि घर वालों के डर मे मजदूरों के मुहल्ले तक मे जाने से डरती थी, जेल तक मे मोहन से

मिलने जाने मे संकोच नही करती। यही पर आकर नाटक मे मजदूरों की समस्या मुख्य न रहकर यह परिणय की कथा प्रबल हो जाती है और हम मजदूर-समस्या की ओर से हटकर एक भारी समय के लिये दो प्रेमियों के संयोग की प्रतीक्षा मे लीन हो जाते हैं।

प्रस्तुत कथा मे प्रकाश का चरित्र-चित्रण शराबी के रूप मे एक दार्शनिक का चरित्र-चित्रण है। वह दार्शनिक जिसकी भावुकता संघर्ष की मादकता में जगती है। केवल एक नशीला और तरल पदार्थ शराब ही नशा नहीं करती, अपितु अत्याचार और संघर्ष का दर्शन भी नशा करता है। यही नशा दिमाग मे उत्तेजना पैदा करता है। हमारे प्रकाश की उक्तियां केवल एक शराबी की ऊलजलूल बकवाद नहीं, अपितु हमारे अव्यवस्थित और लडखडाते हुए पूंजीवाद का तीव्र विवेचन है। पूंजीवाद का सच्चा विवेचन हमारे समाज मे शराबी और नशे मे बकवाद करनेवाले के समान ही समझा जाय, नाटककार ने शायद हमारे प्रकाश को शराबी के रूप मे इसी लिये प्रस्तुत किया है।

बंदी-जीवन में मोहन बाबू को एक कैदी अपनी जेल-यात्रा की कहानी सुनाता है। वास्तव में वह कहानी उस बंदी की नहीं अपितु गरीब दुनिया के असंख्य स्वाभिमानियों की कहानी है। उस दुःखी बंदे की जेल के संबंध में कितनी सुंदर उक्ति है :—"यह वह मशीन है जहां बदमाश ढाले जाते है।"

नाटक मे बच्चो की सेवा का भी अच्छा उपयोग हुआ है। इस वानरी-सेना के द्वारा समस्या-मग्न पाठक के मन को स्फूर्ति मिलती है।

अधिक न कहते हुए हम अंत में इतना कहकर समाप्त करेंगे कि नाटक में हमारा आज का निकट-वर्तमान प्रस्तुत किया गया है जिसमे नाटक का लक्ष्य पूरी तरह प्रस्तुत हुआ है। कथा-निर्वहण, चरित्र-चित्रण तथा काव्य-सौंदर्य सभी कुछ बडा सुंदर बन पड़ा है।

द्विजेंद्रलाल राय का

चंद्रगुप्त

संसार विचित्रता का नाम है, विभिन्नता से उसका संचालन होता है। यदि संसार से ये दो वस्तुएं लुप्त हो जायं तो क्या सभव है कि संसार का अस्तित्व शेष रह सके? चंद्रगुप्त भी एक छोटा सा विश्व है क्योंकि उसमे भी आपको विचित्रता तथा विभिन्नता दिखलाई पड़ेंगी। और सच जानिए, उस दुनिया का आधार भी वही दोनो वस्तुएँ है। क्या आप विश्वास करेगे कि ये दोनो वस्तुएं न होने पर भी चंद्रगुप्त चंद्रगुप्त रह सकता था? कभी नही।

नंद सा अत्याचारी, मुरा से प्रपीड़ित, सिकंदर से विजेता, सिल्युकस से मानाभिलाषी, कात्यायन से अनुगामी, चाणक्य और चंद्रगुप्त से गुरु-शिष्य अथवा यो कहिए महानिपुण मंत्री तथा राजा वहा मिलेंगे। और लीजिये! वीर सेनापति, समय पर प्राणों की बाजी लगा देनेवाले मित्र भी वहां होंगे और वे भी होंगे जो तनिक डराये जाने पर ही प्राणों की भीख मागने लगे और आदर्श-प्रेमियों की तुलना के लिए तो आपको अन्यत्र कोई मिल ही न सकेगा।

चरित्र-चित्रण

कल्पना में वास्तविकता का संरक्षण

इस हमारे संसार का नायक चंद्रगुप्त है। चंद्रगुप्त वीर होता हुआ भी केवल शूद्र मां का लाल होने के कारण ही सत्ताधारी नंद की दृष्टि मे हीन है। क्या ऐसे व्यक्ति का अधिकार संसार में जीने का नही?

और क्या शूद्र होना उसका अपराध है ? यदि नहीं तो चद्रगुप्त अत्याचार और अपमानो के साये मे क्यो रहे ? वह यह भी जानता है कि अत्याचार करना भी पाप है और अत्याचार सहना भी । तो क्यों पाप से मुक्त होने के लिए अड़ न जाये।

चंद्रगुप्त वीर है परतु किसी की आखों मे आसू देखकर उसमे शक्ति नहीं रह जाती कि वह अपना क्षत्रियोचित कर्तव्य करने के लिये बढे । चाणक्य को भी उसकी वीरता पर तो पूरा भरोसा है—"··चंद्रगुप्त का शौर्य दुर्जेय है।" परंतु फिर भी शंका है कि उसे किसी के आसुओं की मोह-माया आ न दबाये । गुरुवर चाणक्य के चद्रगुप्त महाराज कृष्ण के अर्जुन है। चंद्रगुप्त वीरता मे कम नहीं परंतु मोहजनित प्रेम उससे पृथक् नहीं, तभी तो वह युद्ध से भागकर आता है और कहीं शत्रु नंद की हत्या पर मोह के आंसू गिराकर पूछता है—

"किसने वध किया है?"

"किसकी आज्ञा से?"

उसकी इस थोथी दयालुता पर दूसरों को प्राण-भिक्षा की पूरी पूरी आशा रहती है। मृत्युछत्र के नीचे खड़ा हुआ नंद कहता है—

"···पर यह अवश्य है कि चंद्रगुप्त मेरा वध नहीं करेगा।"

धनमद भारी मद है और राजमद उससे भी तीक्ष्ण, फिर भला चंद्रगुप्त को अहम्मन्यता क्योंकर छोड़ सकती थी ! उस महान् राज्य की प्राप्ति के लिये दिन-रात खून-पसीना एक करनेवाले चाणक्य के हृदय को उस अहम्मन्यता ने आखिर ठेस पहुंचा ही दी ! चाणक्य द्वारा कैफियत न देने पर सैनिकों को आज्ञा हुई कि चाणक्य को बंदी कर लो—

"चाणक्य—मैं कैफियत नहीं दूँगा।

चंद्रगुप्त—इतना साहस !—सैनिकों ! बंदी करो।"

—क्या यह कृतघ्नता नहीं ? इतने महान् राज्य के निर्माता को—जिसने सब कुछ पराये के लिये ही रचा है—जिसने इतनी महान् रचना अपना कहकर चंद्रगुप्त के लिये की है—बंदी बनाने का साहस करता है। यही नहीं, और लीजिये इस अभिमान की हद यहीं नहीं हो जाती। चंद्रगुप्त को चंद्रकेतु भाई की दृष्टि से नहीं देख सकता,—चंद्रकेतु उससे बंधुत्व का नाता नहीं जोड़ सकता, क्योंकि बराबरवालों मे ही बधुत्व का नाता हो सकता है।

"चंद्रगुप्त—पर वह बंधुत्व होता है बराबरवालों में।"

चंद्रकेतु बेचारा बराबर भला क्योंकर माना जा सकता है ? वह तो चंद्रगुप्त से बहुत छोटा है, क्योंकि वह समय पर चंद्रगुप्त के काम जो आ गया। ये दो बातें हैं जो कि चंद्रगुप्त के चरित्र के लिये श्याम वर्ण के टीके है। नाटककार ने पश्चात्ताप की अग्नि प्रज्वलित करके उस पर उसे तपाया है, और उस चरित्र को निर्मल करने का उद्योग किया है। संकट के समय उसे फिर उनकी याद दिलाई गई है—

"चद्रगुप्त···महाराज चंद्रगुप्त की जय तो चाणक्य और चंद्रकेतु के साथ चली गई।"

इतना सब होते हुए भी चंद्रगुप्त एक अतुल पराक्रमशील तथा स्वाभिमानी वीर है। राजा पुरु के लिये सिकंदर का क्षमादान पुरु के लिये ही नहीं, अपितु भारत भर के लिये लज्जा की बात थी। भारतीयों के लिये वह विदेशियों का अहसान था—वह उनका ऋण था। चंद्रगुप्त ने भारत को उस महान् भार से मुक्त कर दिया, बदले में

यूनान सम्राट् सिल्युकस को जीतकर छोड दिया—"जाओ, क्षमा करते हैं।"

"चंद्रगुप्त—सम्राट्, हिंदू जाति बराबर असभ्य नही है। वह भी सिकदर शाह की राजा पुरु के प्रति दिखाई सुजनता का उत्तर देना चाहती है। अपने देश को चले जाइये वीरवर! आप मुक्त हैं।"

महत्ता के इस सुंदर चित्र मे लघुता के वे छोटे धब्बे केवल मानव-स्वभाव की वास्तविकता का दिग्दर्शन हैं—अन्य क्या?

इस महती साधना के लिये चंद्रगुप्त को साथी अच्छे मिले, चाणक्य तथा चंद्रकेतु। इनमे प्रथम को यदि उसका संचालक कहा जाय तो अनुचित न होगा। चाणक्य ही महान् साम्राज्य का निर्माता है। चाणक्य नीति का महापंडित है—उसकी नीति फूलती-फलती है, और प्रतिकार उसका सिद्धांत है। अपना सब कुछ नष्ट होने पर भी यदि वह जी रहा है, तो केवल प्रतिकार की इच्छा से।

सारा बना-बनाया खेल उस समय ही बिगड़ गया होता जब कि चंद्रगुप्त भ्रातृ-मोह मे आकर युद्ध-भूमि से लौट आया था। यहां पर चाणक्य की नीति-कुशलता का वही स्थान है, जो कि महाभारत मे महापुरुष कृष्ण का। चंद्रगुप्त को मोहमुक्त करके युद्ध-भूमि में भेज दिया। युद्ध हुआ और विजय हुई।

चाणक्य की वाणी मे कुछ जादू सा प्रतीत होता है—उसे कुछ ऐसा मंत्र आता है कि उससे वह मुर्दों में जान डाल देता है। आखिर जादू भी तो वही है जो सिर चढ़कर बोले। भगोड़े चंद्रगुप्त के सामने उसकी सारी शक्तियां बेकार हो गईं, तो वहां पर मुरा का रुदन ही उसके हृदय मे प्रतिहिंसा का भाव उपजाता है—यह रुदन ही चाणक्य का मंत्र है—

"चाणक्य—मुरा, देखो वह चन्द्रगुप्त आ रहा है। तुम्हें रोना होगा।"

शत्रु अपनी धूर्तता से सम्मुख आता है तो क्या हमे भी उस-जैसा बनकर ही उसका विरोध करना चाहिये ? चाणक्य को इसमे कोई उज्र नहीं। शठ शठता से ही रोका जा सकता है। "शठे शाठ्यं समाचरेत्" भला, लातो के यार बातो से कैसे मानेंगे ?

महापंडित इस ब्राह्मण देवता का तपोबल तथा नीति-पटुता अलौकिक वस्तुएं हैं परंतु इस महत्ता के बीच इतना अधैर्य कि देखनेवाला भी चकित होकर हंस पड़े उसके चरित्र के अनुरूप नहीं प्रतीत होता। दुहिता आत्रेयी का चुराया जाना उसके लिये जीवन-मृत्यु का सा प्रश्न नहीं तो और क्या है ?

"चाणक्य विचक्षण विद्वान् और कूटनीतिज्ञ है। यही सुना जाता है न—तुमने ठीक सुना है। केवल एक ही बात तुमने नहीं सुनी कि उसके हृदय नहीं है। इस पर हाथ रखकर देखो, क्या देख रहे हो ?"

विजय पर विजय मिलीं तो कन्या आत्रेयी भी मिली, बस सब कुछ मिल गया। यह चिर-मिलाप उसको महामंगलकारी हुआ। चाणक्य को इतना सुख न विजयो से हुआ था और न मंत्रित्व से, जितना आज कन्या आत्रेयी के मिलन से हुआ है। मत पूछो कि इस आनंद में वह होश मे भी है ? इस सुख के आगे उसे मंत्रित्व नहीं चाहिये—उसे अधिकार नहीं चाहिये। अब वह जंगलो मे रहेगा—कुटी बनाकर कन्या आत्रेयी के साथ जीवन के शेष दिवस पूरे करेगा।

"मै अब शासन नहीं करना चाहता। अब तो आओ मां (आत्रेयी के प्रति) तुम्हीं मुझ पर शासन करो।" उससे अनुमान

लगाया जा सकता है कि चाणक्य विचक्षण विद्वान् और कठोर नीति का पुतला है पर उसका हृदय उतना नहीं जितना कि उसका नीति-पाडित्य। तो क्या हम इसे कमी कह दें ? नहीं, यह मानव-चरित्र की वास्तविकता का प्रतीक है। आखिर चाणक्य भी तो मनुष्य है। क्या उसे अन्य लोगो की भाति अपनी संतान से स्नेह नहीं हो सकता ? यदि यह वस्तु भी न होती तो चाणक्य का चरित्र हृदयवान् मनुष्यों जैसा न रहकर पाषाण-हृदय नर-राक्षसो जैसा हो गया होता और आप उस कटुनीति के व्यवहारी को अपनी थोड़ी सी भी सहानुभूति देने के लिये तैयार न होते। अधिक क्या—चाणक्य भी मनुष्य है।

उसकी नीति मे मित्र तथा शत्रु का स्थान तब तक बराबर ही है जब तक कि वह सफलीभूत न हो जाय। कात्यायन ने उसका अत्यंत सामीप्य प्राप्त कर लिया है—दोनो मित्रों की भाति रहते हैं। कात्यायन द्वारा प्राप्त गुप्त रहस्य से ही उसकी नीति का अध्याय प्रारंभ होता है परंतु फिर भी कात्यायन को कोई गुप्त भेद तब तक नहीं दिया जा सकता, जब तक कि वह सफलमनोरथ न हो जावे।

"चाणक्य—'**मनसा चिन्तितं कर्म वचसा न प्रकाशयेत्**'।"

कात्यायन—किंतु मै तो तुम्हारा मित्र हूं।

चाणक्य—पंडित चाणक्य का मत है कि—

"न मित्रेष्वपि विश्वसेत्।"

ऐसे रहस्यों को तो मित्र कात्यायन क्या, यदि सम्राट् चंद्रगुप्त भी प्राप्त करना चाहे तो नहीं प्राप्त कर सकता। कैफियत नहीं दी जा सकती, मंत्रित्व छोड़ा जा सकता है।

इतनी महती कठोरता मे कहीं-कहीं कोमलता भी दिखाई दे

जाती है। देखिये, आश्चर्य हो जाता है—अपमान के दो वचन कहनेवाला नंद अनेक सिफारिशो पर भी क्षमा नहीं किया जा सकता, परंतु कात्यायन जैसे मित्रद्रोही को क्षमा-दान ही नहीं बल्कि मौर्य राज्य का मंत्रित्व तक दे दिया जाता है। यही क्यों, आत्रेयी का चोर भी तो उसके हाथों से वह वस्तु पा जाता है, जिसका कोई अनुमान भी नहीं कर सकता था—

"चाणक्य—मैं तुम्हे एक जागीर दूँगा।"

चाणक्य, तुम्हारी न्याय-नीति तुम्ही जानो, तुम व्यक्ति हो; पर महान् हो—तुम संपन्न—सर्वसंम्पन्न—हो; परंतु त्यागी हो, महात्मा हो, तपस्वी हो।

मलयदेशाधिपति चंद्रकेतु का चरित्र तो सचमुच निःस्वार्थता की मूर्ति है। पडित चाणक्य भी कुछ स्वार्थ की भावना मन मे रखकर चंद्रगुप्त की सहायता करता है परंतु चंद्रकेतु को कौन सा लोभ इस सहायता के लिये विवश करता है?

चंद्रगुप्त को उसकी सहायता ने कितना उठाया, परंतु वह फिर भी चंद्रगुप्त को भाई के नाते—बंधुत्व के नाते—न तो देख सकता है, न उससे बंधुत्व जैसा व्यवहार ही कर सकता है। बात क्या है? वह उससे निःस्वार्थ प्रेम करता है, जिसके बदले मे कहीं-कहीं ठोकरें भी खानी होती है। और अपमान आखिरकार चंद्रकेतु का भी हुआ।

क्या चंद्रगुप्त यदि अपमान करता है तो चंद्रकेतु उसके बदले में उसे छोड़ नही सकता है—उससे संबंध तोड नहीं सकता? सब कुछ ठीक, वह कर सकता है सब कुछ, परंतु करना नहीं चाहता—वह काम क्षुद्रों का है।

चंद्रकेतु—"...अच्छा, अब मैं विदा होता हूं।...मेरे जीवन से यदि महाराज का कोई साधारण भी लाभ हो, तो वह जीवन मैं हंसते हंसते महाराज के लिये सदा के लिये दे देने को प्रस्तुत हूं।"

समय आया और उसने किया भी ऐसा ही। आपत्तिकाल मे उसने चंद्रगुप्त की सहायता की।

कात्यायन का चरित्र कल्पना से रहित तथा चमत्कार से खाली दिखलाया गया है। उसके विषय मे हमे अधिक कुछ नहीं कहना है, बस इतना समझिये कि वह एक साधारण व्यक्ति जैसा है—महत्त्व का कौन सा लक्षण आप उसमे देखते है? यदि नंद उससे प्रार्थना कर लेता है तो वह उसका हो जाता है, चाहे वह उसके सात पुत्रो का हत्यारा ही क्यो न सही, और यदि मौर्य राज्य से बाहर हो जाने की आज्ञा मिल गई है, तो चंद्रगुप्त के विरुद्ध वह यूनानी सेनापति का दास बन जाता है। हेलेन की फटकारों पर फिर चाणक्य के कदम चाटता है। कहिये! क्या यह जीवन है? नहीं—आत्महत्या और यह एक नहीं अनेक बार उसने की है। यह महत्ता नही, निर्बलता है—वीरता नही, भीरुता—साहस नहीं, कायरता है—जीवन नहीं, मृत्यु है—वह आत्महत्या करनेवाला है।

सिल्युकस तथा सेनापति एंटिगोनस की वीरता मे कोई संदेह नहीं किया जा सकता, परंतु नाटककार की दृष्टि मे उनका चरित्र सर्वथा श्वेत नहीं। सिल्युकस सिकंदर के विजित प्रांतों का अधिकारी है, साधारण सेनापति से वह एक शासक बन गया है। पदवृद्धि के साथ-साथ उसकी लालसा भी बढ़ती जाती है। अपनी तृप्ति के लिये किसी को पीड़ा देना नाटककार की दृष्टि में कोई उच्च

चरा नहीं। उसकी विश्वप्रेम-पुजारिन कन्या के हाथों ही उसका प्रतिकार कराया गया है।

उसकी बढ़ती हुई इच्छा का प्रतिफल उसे पराजय के रूप मे मिला। पराजय हुई, अपमान मिला और सधि करनी पड़ी, सो भी अपमानजनक। चाणक्य की शर्तों के अनुसार उसको हेलेन का पाणिग्रहण चद्रगुप्त से करना होगा। सिल्युकस को यह अपमान—यह निरादर—सब सहन करना होगा। और तो क्या उसकी कन्या ही स्वयं उसका अपमान करेगी।

संधि के अनुसार सिल्युकस ने हेलेन का विवाह चंद्रगुप्त की बढती हुई विजयों के भय से स्वय अपनी इच्छा से किया था; परतु नाटक मे उसका इस शर्त के लिये अप्रस्तुत सा होना नाटककार की कल्पना है। इससे वह दिखाना चाहता है सिल्युकस का थोथा अभिमान तथा हेलेन द्वारा विश्वप्रेम का भाव।

इतना वीर होने पर भी उसे कहीं कहीं कायर का रूप दिया गया है। एंटिगोनस के हाथों में पहुचना तथा प्राणरक्षा के लिये आखों को गीला करना कापुरुषों का काम है—वीरों का नहीं। खैर कुछ भी सही, हेलेन द्वारा जो उसका कहीं कहीं अनादर हुआ है वह सब विश्वबंधुत्व की स्थापना के लिये ही।

एंटीगोनस के हेलेन पर मोहित होने का और उसके द्वारा एंटीगोनस के तिरस्कृत होने का नाटककार ने सुंदर चित्र खींचा है।

मानव, मानव है,—देवता नहीं—वह गिर सकता है। यह क्या सत्य नहीं? वही सत्य यहा भी दिखाया गया है। मा-बाप के किये पापों को संतान को भोगना पड़ता है, उसका जिम्मेदार

है समाज की व्यवस्था। नाटककार को यह पसंद नहीं। इसीलिये उसने एंटीगोनस को व्यभिचारी माता-पिताओं का बेटा बनाया है। इतना सब कुछ है सही, परंतु एंटीगोनस को आखिरकार आदर्श रूप मे ले ही आये। कल के दिन जो हेलेन उसकी आखो मे न जाने क्या क्या थी उसे उसने बहन बना ही तो लिया। नाटकीय तत्त्वों के संरक्षण के लिये ऐसा करना था भी अनिवार्य, महाराज चंद्रगुप्त की धर्मपत्नी को कोई और चाहे तो भला नाटककार के नायक का मान रह जायगा?

चंद्रगुप्त का आदर्श विश्वप्रेम

स्त्री पात्रों में सबसे उच्च आदर्श हमें हेलेन का दिखलाई देता है। हेलेन विश्वप्रेम की प्रतिमूर्ति है। जहां उसका चरित्र साधारण बालकों जैसा वर्णित करके वास्तविकता का पालन किया है वहां उसे विश्वशांति का रक्षक बनाकर भी उपस्थित किया गया है। ऐसा चरित्र मानो नाटककार नें लालची तथा विश्वशाति के विनाशक सिल्युकस के विरोध के लिये ही उपस्थित किया है। एक ओर तो कहां पराये सुख से जलनेवाला सिल्युकस और दूसरी ओर विश्वशाति के लिये बलिदान होने के लिये तैयार वह यूनानकुमारी। हो भी क्यों न, उसपर भारतीय सभ्यता का प्रभाव पड़ा है। विश्वबंधुत्व का आचरण भी तो उसे यहीं से प्राप्त हुआ है न?

शायद हम ऐसा कह दे कि—विजेता चंद्रगुप्त की रमणी बनने की लालसा भला उस सुंदरी के हृदय मे क्यों न होती जब कि वह नायक सर्वगुण-सम्पन्न हो। परंतु यदि उसे अपने सुखों की

ही चाह हो तो उसे सौतिया डाह अवश्य होनी चाहिये। सौतिया डाह तो रमणियों का स्वभाव ही है, परंतु हेलेन का स्वभाव उस स्वभाव से बिल्कुल ही भिन्न है। हेलेन ने निजी सुखों की सृष्टि नही की, उसने तो अपना बलिदान किया है। फिर छाया का सौत बनना भला उस आदर्शमयी देवी के लिये कष्टप्रद हो, यह क्योंकर हो सकता ? वह तो विश्वबंधुत्व की उपासिका है, उसका फिर किसी से क्या बैर ? उसके हृदय में संसार भर के लिये कल्याण की भावनाये है, तो भला छाया जन्म भर क्यों वियोगानल में रह रहकर तपे ? जितना चंद्रगुप्त को वह चाहती है, क्या छाया उससे उतना प्रेम नहीं करती ? उसका तो अधिकार उससे भी कही ज्यादा है—अपने प्राणों पर खेलकर उसने चंद्रगुप्त की रक्षा की है, अपना धन-सर्वस्व भाई भी तो उसने उसकी कल्याण-कामना मे ही खो दिया है। तो क्या छाया उसे नहीं चाह सकती ? उसका तो अधिकार हेलेन से कही बढ़कर है। हेलेन भी तो किसी के अधिकार को दबाना नहीं चाहती—विश्व-प्रेम का अभिप्राय तो है ही अधिकारो की स्वतंत्रता। हेलेन ने वही स्वतंत्रता छाया को दी है।

"हेलेन—(छाया के दोनों हाथ पकडकर) छाया, तुम भूल करती हो ! आओ हम तुमको बतला दे कि यह हार किसे पहनाना चाहिये (छाया वह हार चंद्रगुप्त के गले में पहना देती है)······ छाया, तुम चंद्रगुप्त की बहन नहीं हो, मेरी बहन हो।"

× × ×

छाया को वह फल मिला जिसकी अभिलाषा उसे चिरकाल से थी। यह फल मिला तो, पर बड़े भारी बलिदान के बदले। इतनी तपस्या क्या और कोई कर सकेगा ? उसने तो अपना सभी कुछ उसके लिए

खो दिया है। वह चंद्रगुप्त को चाहे, और चंद्रगुप्त वरे हेलेन को तो क्या उसके लिये कुढना नहीं चाहिये; पर ऐसा नहीं। उसके प्रिय की प्रसन्नता जिसमें है वही उसके लिये भी अच्छा है। तो फिर वह अब ···? सन्यासिनी बन जायगी। कितना महान् आदर्श उपस्थित किया गया है! जिसका ध्यान हर समय मन में रहा है, उसके अतिरिक्त किसी से भारतीय कन्या विवाह संबंध नहीं कर सकती। यदि ऐसा न हो तो प्रेम कहां; मोह हो जायगा—साधना कहां, ढोंग होगा।

मुरा के विषय मे तो केवल इतना कहना अलम् होगा कि वह इस मगध-महाभारत की द्रौपदी है—वहाँ उस "पांचाली" के आँसुओं से वह भारत रचा गया था; और यहाँ इस 'मागधी-द्रौपदी' के ठंढे आँसुओ ने चंद्रगुप्त की तलवार को गर्म और उत्तेजित कर इस मगध-महाभारत की रचना करा दी। नारी-हृदय कितना कोमल है, यह तो सब जानते ही हैं, परंतु "चंडी का कोप" भी तो कम नहीं होता। दोनों ही बातें उसके चरित्र मे मिलेंगी। जब तक कोमलता है तब तक नंद भी उसका बेटा है; परंतु जब वह कोप की उपासना करेगी तो क्या उस कोपाग्नि मे नंद की रक्षा हो सकेगी? दुष्ट नंद अपने अत्याचारों सहित भस्म हो जायगा। स्त्री जाति की मान-रक्षा का नाटककार के हृदय में कितना मान है? मुरा का चरित्र इसका उत्तर है। क्या शूद्र मानव-जगत् मे रहने का अधिकारी नहीं? इसी प्रश्न का हल मुरा के चरित्र में हो जाता है। उसे भी जीने का अधिकार है—ब्राह्मण चाणक्य उसकी रक्षा करेगा।

चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त हमे नाटक के विषय मे यह और कहना है कि चंद्रगुप्त मे इतनी कल्पना की उड़ानें हैं अवश्य, परंतु भावों की वास्तविकता का पूरा पूरा संरक्षण है। घात-प्रतिघात में

चरित्रो का आदर्श ऊंचा ही उठता गया है। मनुष्य मानवता के नाते गिर भी सकता है, परंतु आदर्श एक ऐसी वस्तु है जिसका नाटक मे स्थापन है। कल्पना की जितनी उड़ानें ली गई हैं—उनमे से एक विश्व-प्रेम की भावना भी है, जिसका रूप दिया गया है यूनान कुमारी हेलेन को। और विशेष कर इसी प्रयोजन के लिये चद्रगुप्त को प्रस्तुत किया गया है। चंद्रगुप्त नाटक को "विश्व प्रेम" का चित्र कहिये।

"चंद्रगुप्त" में पात्रों की न्यूनता

पात्रों का आधिक्य भी नाटक मे दुरूहता उत्पन्न करता है और उनकी न्यूनता सरलता। नाटककार अपने पाठको के सुभीते के लिये पात्रो की संख्या अधिक नहीं रखता।। हसाने की आवश्यकता के लिये विदूषक की जगह नंद महाराज के साले ही काफी हैं। वाचाल को और काम ही कौन सा भारी है ? क्यों न उसे विदूषक बना ले ?

नाटक-रचना का अभिप्राय क्या है ? अपने पाठको को कुछ देना नाटककार ने वह दिया है, उसका अभिप्राय उससे पूरा हो जाता है। फिर अधिक कहने से क्या—द्विजेद्र बाबू का "चंद्रगुप्त" सफल नाटक है।

समाप्त

अच्छी हिन्दी

(लेखक—रामचन्द्र वर्मा)

लेखकों और कवियो के लिए, सम्पादको और सवाददाताओं के लिए, अध्यापकों और विद्यार्थियों के लिए, व्याख्यानदाताओं और जन-सेवको के लिए, व्यापारियो और कर्मचारियो के लिए "अच्छी हिन्दी" पढ़ना आवश्यक ही नहीं, बल्कि अनिवार्य भी है। इसे पढ़कर लेखक और सम्पादक अपने लेख प्रभावशाली बना सकते है, अध्यापक विद्यार्थियों को अच्छी तरह शुद्ध भाषा सिखा सकते हैं। 'अच्छी हिन्दी' का अध्ययन सभी तरह के लोगो के लिए इतना अधिक लाभदायक है कि शब्दों मे उसका वर्णन नहीं हो सकता।

सभी समाचारपत्रो ने, हिन्दी के छोटे और बड़े सभी विद्वानो ने और शिक्षा-विभाग के अनेक अधिकारियो ने मुक्त कंठ से 'अच्छी हिन्दी' की प्रशंसा की है; और एक स्वर से कहा है कि सभी हिन्दी पढ़ने-लिखनेवालो को "अच्छी हिन्दी" का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। भारत के आठ-नौ प्रमुख विश्वविद्यालयों और हाई स्कूल-इण्टर बोर्डों, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास, राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति वर्धा, गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी, हिन्दी विद्यापीठ, प्रयाग आदि सभी प्रमुख संस्थाओं की भिन्न-भिन्न परीक्षाओं के पाठ्य-क्रम में इस पुस्तक को स्थान मिला है।

तीसरा संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण, पृष्ठ संख्या ३८+३४० दाम ३); वी० पी० से ३।≶)

हिन्दी प्रयोग

[लेखक—रामचन्द्र वर्म्मा]

'अच्छी हिन्दी' तो महा-विद्यालयों के लिए है; पर उसी ढंग की यह दूसरी पुस्तक विशेष रूप से हाई स्कूलो के नवें-दसवें और हिन्दी स्कूलो के आठवें वर्ग के अथवा इनसे मिलते-जुलते अन्य वर्गों के विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है। केवल हिन्दी की परीक्षाएँ लेने-वाली संस्थाओं की प्रथमा और मध्यमा तथा शिक्षा-विभागों के हिन्दी शिक्षकों आदि की गुरु ट्रेनिंग, सरटिफायड टीचर्स और कोविद सरीखी परीक्षाओं मे बैठनेवाले लोगों की आवश्यकताओं का भी इसमें पूरा पूरा ध्यान रक्खा गया है। एडमिशन या मैट्रिक तक की योग्यता प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियो के लिए यह परम उपयोगी है। जो विद्यार्थी हिन्दी भाषा और व्याकरण की मुख्य-मुख्य बातें और हिन्दी के शुद्ध प्रयोग बहुत सहज में सीखना चाहते हो, उनके लिए यह पुस्तक पढ़ना अनिवार्य है। इससे आरम्भिक विद्यार्थियों को अपनी भाषा विशुद्ध और निर्दोष बनाने में बहुत अधिक सहायता मिलेगी। हिन्दी की आरम्भिक कक्षाओं के शिक्षको के लिए तो वह पुस्तक और भी अधिक उपयोगी है। भाषा की बहुत ही कठिन और जटिल बाते इसमे इतने सहज और मनोरंजक ढंग से बतलाई गई हैं कि एक बार पुस्तक पढ लेने पर फिर लिखने में जल्दी कोई भूल न होगी। पृष्ठ १८० दाम १॥) यदि शिक्षक और विद्यार्थी 'अच्छी हिन्दी' और 'हिंदी प्रयोग' एक साथ मँगावेंगे तो उनसे डाक-व्यय नहीं लिया जायगा; और दोनों पुस्तकें ४॥) के वी० पी० से भेजी जायँगी।